

TEXT DARK AND LIGHT

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182597

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY .

Call No. **H81-082**
G68K Accession No. **P. Q. H 9**

Author **भौंड, कृष्णदेवप्रसाद . संक**

Title **काठय - कमल .**

This book should be returned on or before the date
last marked below.

पुस्तक के विषय में

इस सङ्कलन में कुछ निजी विशेषताएँ हैं। कविताओं का सङ्कलन एक विशेष दृष्टि-कोण से किया गया है। कवियों का ऐतिहासिक तारतम्य तोड़ दिया गया है और विषयों की दृष्टि से रचनाएँ चुनी गई हैं। पुस्तक चार खण्डों में विभाजित की गई है। पहले खण्ड में भक्तिकाल की भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं। इसमें निर्गुण और सगुण दोनों शाखाओं की कविताएँ हैं। दूसरे खण्ड में नीति-विषयक रचनाओं का सङ्कलन है। हाई स्कूल के विद्यार्थियों के लिए ऐसी रचनाओं का जामना भी आवश्यक है। इन रचनाओं की विशेषता है कि शिक्षा के साथ साहित्यिकता भी है। तीसरे खण्ड में वर्णनात्मक रचनाएँ हैं। इसमें मनुष्यकृत नगर के वर्णन के साथ-साथ प्रकृति के नैसर्गिक भण्डार का भी सुन्दर वर्णन है। इस सम्बन्ध में एक नया प्रयत्न किया गया है। एक विषय पर भिन्न-भिन्न कवियों ने क्या कहा, यह दिखाया गया है। जैसे हिमालय पर तीन कवियों की रचनाएँ दी गई हैं। विषय वही है पर प्रत्येक कवि की शैली, दृष्टिकोण तथा भाव अलग अलग हैं। इस प्रकार से पढ़नेवालों का दृष्टिकोण विशाल और व्यापक बनेगा और साहित्यिक अध्ययन सीमित नहीं होगा। अनेक विषयों पर इस प्रकार से सङ्कलन किया गया है। चौथे खण्ड में आख्यायिकाएँ हैं। पाठ्य पुस्तकों में कविताबद्ध आख्यायिका सम्मिलित करने की प्रथा प्रायः नहीं है। अभी तक अधिकांश सङ्कलनों में मुक्तक तथा प्रबन्ध-काव्य के छिन्न अंश ही लिये गये हैं।

नवें-दसवें दर्जे के विद्यार्थियों को कथा-कहानी रचिकर होती है। ऐसी रचनाओं के पढ़ने से उनकी रचि साहित्य की ओर बढ़ती है, इसलिए चतुर्थ खण्ड में आख्यायिकाओं का सङ्कलन है। ये कथाएँ इस प्रकार से सङ्कलित की गई हैं कि पढ़नेवाले को सम्पूर्ण कथा पढ़ने का रस प्राप्त हो। अभी तक एक पुस्तक में नौ-दस कथाएँ नहीं दी गई थीं।

हिन्दी का कोई प्राचीन अथवा नवीन कवि, जिसने हिन्दी काव्य-साहित्य पर अपनी छाप लगा दी है, छूटने नहीं पाया। केवल दो-एक रचनाएँ ऐसी मिलेंगी

जो पिछले सङ्कलनों में भी है, अन्यथा सब नई हैं। रचनाएँ स्वस्थ हैं, सुरचिपूर्ण हैं और विशेषतः मनोरंजक तथा चित्ताकर्षक हैं जिन्हें पढ़कर विद्यार्थी की रूचि हिन्दी-कविता की ओर बढ़ेगी।

प्रत्येक खण्ड के आरम्भ में, उस विषय की रचना के सम्बन्ध में एक सम्प्रधारण भूमिका दी गई है जिससे उस खण्ड के पढ़ने के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। प्रत्येक कवि का जीवनवृत्त, संक्षेप में उसके साहित्य की आलोचना और जो अवतरण दिया गया है, उसका प्रसङ्ग तथा उस रचना का स्थूल रूप दिया गया है। हाई स्कूल की कक्षा के विद्यार्थी के लिए जितनी पर्याप्त है, आलोचना दे दी गई है। अन्त में कठिन तथा अप्रचलित शब्दों के अर्थ, संदर्भ, प्रासङ्गिक कथाएँ भी दी गई हैं जिनसे विद्यार्थियों को सहायता मिलेगी। सङ्कलन-कर्ता को पूर्ण आशा है कि इस पुस्तक से हिन्दी-साहित्य पढ़ने में विद्यार्थियों का तथा पढ़ाने में अध्यापकों का उत्साह बढ़ेगा।

संकलनकर्ता



विषय सूची

विषय	पृष्ठ
हिन्दी कविता ..	१—६

प्रथम खण्ड

भक्ति-काव्य

सूरदास ..	३
पद ..	४
गोस्वामी तुलसीदास ..	१२
वन-गमन ('कवितावली') ..	१४
धनुष-भङ्ग ('रामचरितमानस') ..	१८
मीरा ..	२४
पद ..	२५
रसखान ..	२७
संवैया ..	२८
गुरु नानक ..	२९
दोहे और पद ..	३०
कबीर साहब ..	३२
दोहे ..	३२

द्वितीय खण्ड

नीति-काव्य

रहीम ..	३६
दोहे ..	३६
बिहारीलाल ..	३८
दोहे ..	३९

विषय		पृष्ठ
गिरधरदास	..	४०
कुण्डलियाँ	..	४१
दीनदयाल गिरि	..	४३
अन्योक्तियाँ	..	४३
मंथिलीशरण गुप्त	..	४५
वही मनुष्य	..	४६

तृतीय खण्ड

वर्णनात्मक-काव्य

जायसी	..	५०
सिंहलद्वीप-वर्णन	..	५१
भूषण	..	५४
रायगढ़-वर्णन	..	५५
नरेन्द्र शर्मा	..	५७
प्रयाग	..	५७
जयशङ्कर 'प्रसाद'	..	६०
भारतवर्ष	..	६१
सोहनलाल द्विवेदी	..	६२
भारतवर्ष	..	६२
कान्तानाथ पाण्डेय 'हंस'	..	६३
भारत-वन्दना	..	६४
महावीरप्रसाद द्विवेदी	..	६५
हिमालय	..	६६
धीधर पाठक	..	६८
हिमालय	..	६८
रामधारीसिंह 'बिनकर'	..	७१
हिमालय के प्रति	..	७१

विषय		पृष्ठ
श्रीधर पाठक	..	७५
काश्मीर-सुषमा	..	७५
देवेन्द्रनाथ पाण्डेय	..	७८
काश्मीर में	..	७८
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	..	८०
व्रजभूमि	..	८१
ठाकुर गोपालशरणासिंह	..	८२
व्रजछटा	..	८२
पद्माकर	..	८६
गङ्गा-लहरी	..	८७
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	..	८९
गङ्गा-छवि	..	९०
श्रीधर पाठक ✓	..	९१
वनाष्टक	..	९१
जयशङ्कर 'प्रसाव'	..	९१
भरना	..	९३
देव कवि	..	९३
वसंत	..	९५
कमलेश	..	९६
वसंतोत्सव	..	९६
सुमित्रानन्दन पन्त	..	९६
पलाश	..	९७
बरेन्द्र	..	९८
पलाश	..	९८
सेनापति	..	९९
पावस	..	१००

विषय		पृष्ठ
देव	..	१०१
पावस	..	१०१
रामनरेश त्रिपाठी	..	१०१
पथिक	..	१०२

चतुर्थ खण्ड आख्यायिका-काव्य

केशवदास	..	१०६
लव-कुश से युद्ध	..	१०६
नरोत्तमदास	..	१११
सुदामाचरित्र	..	११२
किशोरीलाल गोस्वामी	..	११४
गङ्गावतरण	..	११५
रामचन्द्र शुक्ल	..	११८
शिशिर-पथिक	..	११८
रत्नाकर	..	१२१
उद्धव का मथुरा लौटना	..	१२२
मिलिन्द	..	१२६
सती सुलोचना	..	१२६
श्यामनारायण पाण्डेय	..	१२९
रणयात्रा	..	१३०
मैथिलीशरण गुप्त	..	१३२
विकट भट	..	१३३
सोहनलाल द्विवेदी	..	१४१
चूड़ावत	..	१४१
निराला	..	१४७
सेवारम्भ	..	१४८
सन्द-कोष	..	१५५

हिन्दी कविता

मनुष्य अपने मन में बहुत-सी बातों का अनुभव करता है, उसी अनुभव को जब वह ऐसी भाषा में, छन्दों में या बिना छन्द के भी लिखता है जिससे हृदय पर प्रभाव पड़े, तब वही कविता होती है। जिस मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है, वह कभी-कभी ऐसा भी करता है कि प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर भी कल्पना से अनुभव कर लेता है। ऐसी कल्पना-प्रसूत कविता अच्छी होती है। अनुभव और कल्पना जहाँ दोनों मिल जाते हैं, वहाँ कविता बड़ी सुन्दर हो जाती है।

सारे संसार का साहित्य कविता से आरम्भ होता है। हिन्दी कविता आज से आठ-नौ सौ वर्ष पहले आरम्भ हुई। उस समय राजपूतों और राजपूतों में, तथा राजपूतों और मुसलमानों में लगातार लड़ाई होती रहती थी। ऐसी ही तलवारों की खनखनाहट में हिन्दी कविता का जन्म हुआ। कविता भी वैसी ही हुई जिसमें वीरता के उद्गार थे; कविता की भाषा भी वैसी ही ऊबड़-खाबड़ थी, जैसी रण की भूमि होती है। कविता के स्वर में भी वही गर्जन था, जो रण के बाजों में होता है।

युद्ध धीरे-धीरे बन्द हुआ किन्तु हिन्दुओं की पराजय के साथ। राजनीतिक पतन के साथ धार्मिक स्वतंत्रता भी पहली-सी नहीं रही। कोई धार्मिक नेता बनने के लिए तैयार न था, जो प्रत्यक्ष आकर निर्भय होकर हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा-दीक्षा जारी रखता। नया-नया मुसलमानों का शासन था; लोग डरते थे। ऐसे समय नये-नये लोगों की बन आती है। अनेक मतमतान्तर देश में फैलने लगे। इस सबका फल यह हुआ कि देश में एक निराशा का अन्धकार छा गया। कहीं किसी को आशा के प्रकाश की एक पतली रेखा भी दिखाई नहीं पड़ी।

किन्तु यह दशा अधिक दिन तक नहीं चल सकती थी। मुसलमान शासक यहाँ बस गये। युद्ध और विजय की आम्बिक हलचल समाप्त हो गई और मुसलमानों तथा हिन्दुओं का सम्पर्क बढ़ा; एक दूसरे को समझने लगे। हिन्दुओं के धार्मिक नेताओं ने भी अवसर देखा। हिन्दू-धर्म का महल तो ऐसी नींव पर बना था कि गिरना असम्भव था। बीच में भूकम्प अवश्य आ गया था। पुराने सिद्धान्तों को समय के अनुसार नया रूप देकर प्रचारकों ने प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

दक्षिण में रामानुजाचार्य और माधवाचार्य के तथा उत्तर भारत में रामानन्द, चैतन्य महाप्रभु और गोस्वामी वल्लभाचार्य के प्रयत्नों से एक नया धार्मिक आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस समय उन्होंने देखा कि ब्रह्म और जीव, परमात्मा और आत्मा के गम्भीर और सूक्ष्म विवाद तथा व्याख्या का समय नहीं है। जनता उद्विग्न थी, नैराश्य में थी, उसे तो एक ऐसा सहारा चाहिए था जो हाथ पकड़कर उबार ले। धार्मिक वातावरण के लुप्त हो जाने के कारण धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों को समझने तथा उसके विश्लेषण करने की शक्ति साधारण हिन्दू-जनता में नहीं रह गई थी। इन्हें तो ऐसे भगवान् की आवश्यकता थी जो उनके सुख-दुःख में शरीक हो। सुख में उनके साथ आनन्द मनाये, दुःख में उनके साथ सहानुभूति प्रकट करे। ऊपर लिखे धार्मिक सुधारकों ने इसी लिए भगवान् की सगुण भक्ति का मार्ग बताया, जहाँ मनुष्य अपने ही रूप में भगवान् को देखे। अपनों से स्नेह का बन्धन अधिक दृढ़ होता है।

मुसलमानों का प्रभाव देश के विचारों पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। हिन्दू तो बड़े पुराने एकेश्वरवादी थे; मुसलमान एक खुदा को माननेवाले थे। कुछ लोगों ने सोचा कि कोई ऐसी राह क्यों न निकाली जाय कि भगवान् की भक्ति तो हिन्दू-कल्पना के अनुसार हो; किन्तु भगवान् का कोई स्वरूप न स्थिर किया जाय। इससे सम्भव है, मुसलमान भी खिच आयें। दोनों का मेल-जोल हो जाय; विरोध-भाव मिट जाय; देश में सुख-शान्ति फैले। इस प्रकार की भक्ति को निर्गुण भक्ति कहते हैं। समय के विचार से निर्गुण भक्ति का प्रचार पहले आरम्भ हुआ।

इन विचार-धाराओं का हिन्दी-साहित्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी उत्तरी भारत, मध्य भारत, राजस्थान की भाषा थी। जिन लोगों ने अपने विचारों के प्रचार के लिए कमर कसी, उनके लिए हिन्दी ही साधन था। उस युग में कविता ही माध्यम थी। उसी के द्वारा जनता के हृदय तक लोग पहुँच सकते थे। इसीलिए सन्तों ने अपने सिद्धान्तों को अधिकांश गीतों में ही रक्खा जिन्हें साधु-समुदाय गाता हुआ गाँव-गाँव, नगर-नगर रमता था।

इस सम्प्रदाय के सबसे बड़े कवि कबीर हो गये हैं। इन्होंने राम रहीम को एक दृष्टि से देखा। ये सरल चलती भाषा में अपने पद बनाते थे। ये हिन्दू-मुसलमान दोनों को उनके दीनों के लिए फटकारते थे। इस सम्प्रदाय के दादू, नानक और मलूकदास अनेक कवि हो गये हैं।

कुछ लोगों को इनका रुखा-मुखा विषय रुचा नहीं। इसका कारण यह था

कि मुसलमानों में भी कुछ सूफ़ी सम्प्रदाय के फ़कीर थे। ये भी धार्मिक विरोधों से दूर रहते थे। इनके लिए हिन्दू-मुसलमान सभी अल्लाह के बन्दे थे। इस सम्प्रदाय का जन्म फ़ारस में हुआ था। वहाँ सूफ़ियों ने ऐसी कथाएँ लिखी थीं, जो थीं तो सांसारिक प्रेम-कथाएँ; किन्तु उनका अभिप्राय भगवान् से प्रेम का था। सांसारिक प्रेम एक रूपक, आवरण मात्र था। निरे निराकार ईश्वर की भक्ति की अपेक्षा इसमें कुछ अधिक रस था।

कुछ भारतीय मुसलमान सूफ़ी सन्तों ने इसका भारतीयकरण किया। कथाएँ भारत की लीं, लिखने का ढङ्ग दोहा-चौपाई रक्खा, आदर्श वही अपना रक्खा। कबीरवाले निर्गुण सम्प्रदाय को ज्ञानाश्रयी निर्गुण सम्प्रदाय कहते हैं और दूसरे को प्रेमाश्रयी। दूसरी शाखा के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी हो गये हैं। इनका ग्रन्थ पद्मावत विख्यात है। पद्मावत लिखकर इन्होंने अपनी भाषा का परिष्कार किया और उसे इस योग्य बनाया कि आगे के कवि उसमें प्रबन्ध-कथा बाँध सकें। और भी अनेक मुसलमान कवियों ने इस शैली का अनुसरण किया है।

किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय जनता की आत्मा के अनुकूल निर्गुण सम्प्रदाय की कोई शाखा न बैठी। हिन्दू जनता को भगवान् की इस समय जिस रूप में आवश्यकता थी, वह सगुण भक्तिवाले ही उपस्थित कर सके। सगुण भक्ति की धारा ऐसी बही कि सारा देश उसकी तरङ्गों में प्रवाहित हो गया। हिन्दू तो क्या मुसलमान भी इसमें वह चले।

सगुण भक्ति की भी दो शाखाएँ हैं। एक तो मधुर भाव की है, जिसमें भगवान् मानवीय लीला करते हैं, आनन्द-उल्लास मचाते हैं। इस सम्प्रदाय ने भगवान् का कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठान किया। इस धारा के कवियों ने भगवान् को लोकनायक भी बनाया; मनोरंजक, आनन्द का सागर बनाया। इस शाखा के साहित्यकारों में सबसे प्रमुख सूर हैं। इनकी रचनाएँ मधुरिमा की खान हैं, और साहित्यिक दृष्टि से अनमोल रत्नराशि हैं। सगु भक्ति, जैसा कहा गया है, जनता की मनोवृत्ति के अनुकूल थी। इसकी कृष्ण शाखा खूब फैली। सैकड़ों कवि कृष्ण की उपासनावाले हुए हैं जिनमें हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी। उनकी रचनाएँ रस की गागरियाँ हैं। मीरा, रसखान, देव, रहीम, नन्ददास, आलम, बिहारी, नरोत्तमदास आदि अगणित कवि सरसता और मधुरता में अद्वितीय हैं।

कुछ लोगों ने कल्पना की कि भगवान् आते तो हैं मनुष्य बनकर, किन्तु केवल आमोद-प्रमोद करके भक्तों को तारने के लिए नहीं, वरन् दुष्टों का दलन

करने के लिए लोक-रक्षक, लोकनायक के रूप में संसार का उपकार करने के लिए। इन लोगों ने भगवान् को राम के रूप में देखा, यद्यपि कृष्ण ने भी दुष्टों का दलन किया था, किन्तु भक्तिवाले कृष्ण आनन्दमूलक अधिक थे। भक्ति की दूसरी शाखा राम-सम्प्रदाय की शाखा कही जाती है। इस विषय की भी बहुत-सी साहित्यिक रचना हुई, किन्तु उतनी नहीं जितनी कृष्णभक्ति की।

राम की उपासना करनेवाले कवियों में हिन्दी में सबसे बड़े कवि गोस्वामी तुलसीदास हुए हैं। इतना ही नहीं, हिन्दी के सबसे बड़े कवि तुलसीदास माने जाते हैं। आपने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें रामचरितमानस बहुत ही लोकप्रिय है। साहित्यिक दृष्टि से भी और धार्मिक दृष्टि से भी घर-घर में इसका आदर है। इनके और ग्रन्थ भी—जैसे विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली इत्यादि उत्कृष्ट हैं। ये ब्रजभाषा तथा अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार रखते थे। रामचरितमानस अवधी भाषा में है। कवितावली, गीतावली आदि ब्रजभाषा में है।

और लोगों ने भी राम की कथा को प्रबन्ध में बाँधा है, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली; जैसे केशवदास ने रामचन्द्रिका लिखी किन्तु उसका उतना प्रचार नहीं हुआ।

कुछ ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि मध्यकाल का साहित्य हमें रोना, अकर्मण्यता और दीनता सिखाता है। उसने हममें दासता की मनोवृत्ति पैदा कर दी है। किन्तु ध्यान देकर देखा जाय तो ऐसी बात नहीं है। इस कविता में वह शक्ति निहित है, जिसने हिन्दू जाति और संस्कृति को आज तक जीवित रखा है; हिन्दू-धर्म को विनाश से बचा लिया। हिन्दू-जाति यदि दीन बन गई होती, दास हो गई होती तो वह उठ नहीं सकती थी।

इन दिनों संस्कृत के विद्वानों के लक्षण-ग्रन्थों का बड़ा पठन-पाठन हो रहा था। बहुत-से लक्षण-ग्रन्थ बन भी रहे थे। संस्कृत की देखादेखी हिन्दी में भी साहित्य के लक्षण और रीति के ग्रन्थ लिखे जाने लगे। यह हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल कहा जाता है। एक तो भक्ति-साहित्य के बाहुल्य से कुछ लोग ऊब-भरे रहे थे, दूसरे राजाओं के दरबार में कवियों को आश्रय मिल रहा था। इसमें कविता कुछ-कुछ दरबारी ढङ्ग पकड़ने लगी। कवि लोग लक्षण-ग्रन्थ बनाते थे और उदाहरण में अपने आश्रयदाता के गुणों का बखान करते थे।

कुछ लोगो का आक्षेप है कि रीति-काल के कवियों ने अपनी प्रतिभा का

दुरुपयोग किया है। राजाओं की प्रशस्ति गाई है। देश और समाज की ओर ध्यान नहीं दिया है। कविताएँ भ्रष्ट तथा अश्लील हैं। यदि हम इस समय का साहित्य पढ़ें, तो ज्ञात होमा कि वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कवि राजाओं के आश्रय में रहे सही, किन्तु उनके दास नहीं थे। हिन्दी कवियों का अक्खड़-पन विख्यात है। कितने ही कवियों ने राजाओं को फटकार दिया और कितने ही उनके क्रोध के भाजन बने। अपवाद भी मिल सकते हैं, किन्तु वे अपवाद ही हैं। जिन लोगों ने क्रमबद्ध रीति के ग्रन्थ लिखे, उन्होंने भी अश्लील रचनाएँ नहीं कीं। हाँ, फुटकल छन्दों के रचयिताओं ने कभी-कभी मर्यादा का अतिक्रमण किया है। देव, भूषण, केशव, मतिराम, घनानन्द, पद्माकर, रहीम, विहारी, सेवक, गङ्ग इत्यादि पर हम चाटुकारिता का दोष नहीं लगा सकते।

उस युग पर भी ध्यान देना आवश्यक है। देश में शान्ति थी, समृद्धि थी। चारों ओर धन-धान्य से देश परिपूर्ण था। दूसरी ओर भक्तिकाल की धार्मिक रचनाओं की अधिकता की प्रतिक्रिया भी थी। ऐसे समय कष्ट या दीनता की रचना कैसे हो सकती थी? वीररस के काव्य तो लिखे ही गये। दानशीलता में कवियों ने अतिशयोक्ति का सहारा अवश्य लिया है। इसी युग में नीति-विधायक मुक्तक रचनाएँ भी हुई हैं जिनमें वृन्द, गिरधर, ब्रंताल आदि कवि प्रमुख हैं। इनकी रचनाएँ उपदेशात्मक हैं।

इसके पश्चात् हिन्दी कविता की धारा धीरे-धीरे बहती रही। साहित्य में कुछ शिथिलता आ गई। बहुत दिनों तक कोई ऐसा प्रतिभा-सम्पन्न कवि नहीं हुआ जो किसी विशेष ढङ्ग पर कविता की धारा को मोड़ता। हिन्दी में कविता की भाषा ब्रजभाषा ही इस समय तक रही और इसमें लोग कविता करते थे। बीसवीं सदी का मध्य होते-होते गद्य में खड़ी बोली चल पड़ी थी और बहुत-से लोग इसमें गद्य लिखने लगे थे। सं० १९०७ में भारतेन्दु का जन्म हुआ था। उनके समय में यह विषय छिड़ा कि कविता भी खड़ी बोली में लिखी जानी चाहिए। देश में साहित्यकारों में दो मत हो गये। कुछ लोगों का कहना था कि खड़ी बोली कविता के लिए उपयुक्त नहीं है।

भारतेन्दु ने कविता तो अधिकांश ब्रजभाषा में ही लिखी, किन्तु उसमें भी उन्होंने दृष्टिकोण बदला। भक्ति-भावना की कविता की; सामाजिक समस्याओं की ओर भी उनका ध्यान गया। भारतेन्दु के पश्चात् खड़ी बोली में भी कविता चल पड़ी अवश्य, किन्तु अधिकांश कवि लोग ब्रजभाषा में ही लिखते थे। एक बात में अवश्य परिवर्तन हुआ। वर्ण्य विषय अभी तक भक्ति, शृङ्गार, वीरता इत्यादि

ही थे। देश में सभी प्रकार के परिवर्तन हो रहे थे। इसका प्रभाव काव्य-साहित्य पर पड़ा। नवीन विषयों का कविता में समावेश हुआ। राष्ट्रीयता, समाज-सेवा, शिक्षा, प्राकृतिक वर्णन, देश-दशा आदि पर भी कविताएँ होने लगीं।

अभी तक यह हाल था कि कविता के विषयों में परिवर्तन हुए पर ब्रज-भाषा में ही लोग लिखते थे, खड़ी बोली में कोई-कोई। बीसवीं सदी के मध्य भाग के लगभग पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के रङ्गमञ्च पर आये। इन्होंने खड़ी बोली को प्रोत्साहन दिया। परिणाम यह हुआ कि पुराने कवि जैसे हरिऔध, श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', गोपालशरणसिंह आदि ब्रजभाषा छोड़कर खड़ी बोली में कविता करने लगे। अब ब्रजभाषा में कविता करनेवाले अपवाद-से थे; जैसे रत्नाकर।

खड़ी बोली कविता की तीन धाराएँ अभी तक प्रवाहित हो चुकी हैं। पहली धारा के कवि हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम, सनेही, रामनरेश त्रिपाठी तथा और अनेक कवि हैं। इन लोगों का काव्यकाल खड़ी बोली की आरम्भिक अवस्था है। भाषा में सुष्ठुता नहीं आई है। विषयों में नवीनता है, अनेकता है। देश की प्रगति के अनुसार है। दूसरी धारा लेकर जयशंकर 'प्रसाद' आये जिन्होंने एक नई शैली की सृष्टि की, जिसे छायावाद कहते हैं। इस प्रकार की रचना में कल्पना की उड़ान अधिक होती है। पन्त, निराला और महादेवी वर्मा आदि ने इस शैली का अनुकरण किया। आजकल इसकी प्रतिक्रिया हो रही है। उस शैली पर लिखनेवाले नहीं के बराबर हैं। अब कविता पर राज-नीतिक तथा सामाजिक प्रभाव पड़ रहा है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि हिन्दी कविता बड़े-बड़े महारथियों की सात-आठ सौ वर्षों की तपस्या का फल है। हिन्दी की कविता की निधि अक्षय है और इसमें प्रत्येक दशक में दो-एक अच्छी रचनाएँ सम्मिलित ही हो जाती हैं। हमारी कविता का सबसे बड़ा गुण है कि हमारी सांस्कृतिक भावनाएँ उसमें निहित हैं। हमारा काव्य काव्य ही नहीं है, उसमें धर्म और इतिहास की पृष्ठभूमि है। इसलिए और देशों की नितान्त साहित्यिक रचनाओं से हमारा काव्य-साहित्य कुछ भिन्न है, इसी से वह आज तक जीवित है, उसकी ज्योति मन्द नहीं हुई।

प्रथम खण्ड

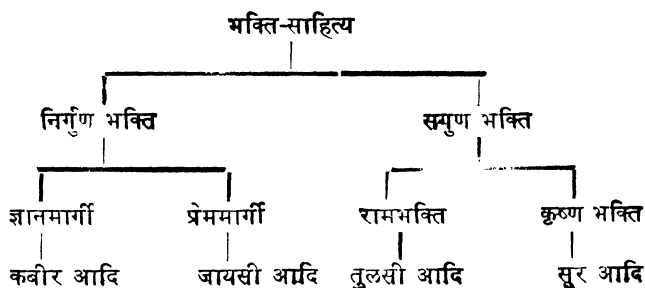
भक्ति-काव्य

भक्ति का धार्मिक स्वरूप वैदिक काल के समान ही पुराना है। समय-समय पर दार्शनिकों ने इसके तत्त्वों का विवेचन किया है। भारतवर्ष में जब मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया, हिन्दू निर्जीव-से हो गये, उनका प्राचीन गौरव खो गया, उनके मन में उत्साह नहीं रह गया, ऐसे समय जब उनके धर्म तथा देश पर विपत्ति छा गई तब भगवान् के अतिरिक्त कोई सहारा नहीं रह गया। सामान्य जनता धर्म की सच्ची भावना से दूर हो गई थी। देश में इधर-उधर रमते साधु जैसे वज्रयानी सिद्ध या तो प्रचार करते थे कि तीर्थाटन, पर्व-स्नान इत्यादि से कोई धार्मिक लाभ नहीं हो सकता या नाथपन्थी योगी जगत् की बातें छोड़कर घट के भीतर की बातें बताते थे जिन्हें कोई समझता न था। उस समय विद्वानों ने सोचा कि जनता के सामने भगवान् को ऐसे स्वरूप में रखना चाहिए जो उनकी समझ में आवे, जिससे उनका कल्याण हो। लोक-पालक, लोक-रक्षक भगवान् को उन्होंने हिन्दुओं के सम्मुख रखवा जिसकी निकटता का सब लोग अनुभव कर सकें, जिसके आगे अपना सुख-दुःख कह सकें और जो उनका त्राण कर सकें।

भक्ति का जो प्रवाह इस रूप से देश में फैला उसने निरुत्साह जनता को अपना लिया। इस प्रवाह में हिन्दू ही नहीं मुसलमान भी बह चले। इसने हिन्दुओं के मुरझाये हुए हृदय को हरा-भरा किया। दक्षिण में रामानुजाचार्य ने (सं० १०७३) विष्णु की सगुण भक्ति का प्रचार किया। उनके शिष्य रामानन्द ने उत्तर-भारत में राम की भक्ति का डब्बा बजाया। दक्षिण में माधवाचार्य ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। उत्तर भारत में बल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति की धारा बहाई। इस प्रकार राम और कृष्ण की उपासना का भाव लोगों में फैला।

इस युग को भक्ति-काल कहते हैं। भक्ति के स्रोत से अनेक धाराएँ फूटीं। देश में मुसलमानों के बस जाने से कुछ लोगों ने भक्ति की दृष्टि से ईश्वर की उपासना का ऐसा ढंग खोजा जो दोनों जातियों के लिए समान हो। इस प्रकार के साहित्य के निर्माताओं को निर्गुणपन्थी कहते हैं। इसमें कुछ लोग तो भगवान् के नाम की ही उपासना करना बताते थे और कुछ लोग उसे सरस बनाने के लिए भगवान् से प्रेम करने का सिद्धान्त सिखाते थे। पहली को ज्ञानमार्गी निर्गुणपन्थी और दूसरी को प्रेममार्गी निर्गुणपन्थी कहते हैं। पहली शाखा के कवि कबीर, दादू, नानक इत्यादि हो गये हैं। दूसरी के सबसे बड़े कवि जायसी थे।

दूसरी भक्ति सगुण भगवान् की उपासना बतलाई गई। भगवान् को मनुष्य ने अपने रूप में जाना, इससे भगवान् से अधिक निकटता जान पड़ी। इसमें अधिक सरसता थी। इस प्रकार की भक्ति से हिन्दू जनता अधिक प्रभावित हुई। इसमें भगवान् लोक-रक्षक और लोक-रंजक के रूप में प्रकट किये गये। इसके भी दो स्वरूप थे—एक राम की भक्ति सिखानेवाला जिसके सबसे बड़े कवि तुलसीदास थे, दूसरा कृष्ण की भक्ति सिखानेवाला जिसके सूर, मीरा, रसखान ऐसे सैकड़ों सुन्दर कवि हो गये हैं।



सूरदास

[सं० १५४०—१६२०]

सूरदास के जीवनचरित के विषय में अभी बहुत कुछ ज्ञात नहीं है। ये आगरे से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रनुकता ग्राम में रहते थे। ये अन्धे थे किन्तु इनकी रचनाओं में ऐसे अनेक वर्णन आये हैं जिनसे पता चलता है कि ये जन्म के अंधे नहीं थे। इनकी भेंट वल्लभाचार्य से हुई और उनके साथ ये गोकुल चले आये। वहीं भगवान् की भक्ति में तल्लीन होकर पद बनाते और गाते थे। उनके पदों का संग्रह 'सूरसागर' है। कहा जाता है, इन्होंने सवा लाख पद बनाये किन्तु अब कुछ सहस्र पद ही मिलते हैं। इनके पद भागवत की कथा के आधार पर बने हैं। गोस्वामी विठ्ठलनाथ ने जो अष्टछाप की स्थापना की उसमें पहले कवि सूरदास ही हैं।

सूर ने अपनी रचनाओं में व्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनकी रचनाओं में सरसता, मधुरता और कोमलता पाई जाती है। कवि ने वात्सल्य, प्रेम, विरह आदि भावों को अपनी रचनाओं में बड़ी सुन्दरता से दिखाया है। यद्यपि इन्होंने पूतना-वध, कालिय-मर्दन, गोवर्धनलीला, कंसवध इत्यादि वर्णन द्वारा कृष्ण के लोकनायक होने के पक्ष को भी दिखाया है किन्तु अधिकतर इन्होंने भगवान् कृष्ण की भक्ति का मधुर पक्ष ही ग्रहण किया है। इन्होंने कृष्ण के बालचरित्र का जैसा मनोवैज्ञानिक वर्णन सफलतापूर्वक किया है वैसा हिंदी में और कोई कवि नहीं कर सका। प्रेम की वियोग तथा संयोग दोनों अवस्थाओं को बड़े मार्मिक रूप से इन्होंने व्यक्त किया है। इन्होंने कृष्ण को लोकरक्षक के रूप में नहीं ग्रहण किया। उन्हें एक मधुरिमापूर्ण सहृदय

सरस भगवान् का अवतार माना और इसी दृष्टि से निःसंकोच रूप से उनका वर्णन किया। सूर के कृष्ण भागवत के कृष्ण हैं, गीता के नहीं। भ्रमरगीत में इन्होंने सगुण भक्ति का खूब समर्थन किया है।

नीचे लिखे अवतरणों में प्रथम दो पद विनय के हैं। उसके पश्चात् चार पद उस संबंध के हैं जब कंस ने पत्र लिखकर, कालीदह के फूल मँगवाये जिससे नन्द तथा यशोदा आदि बहुत घबरा गये। उसके पश्चात् उस समय का वर्णन है जब कृष्ण मित्रों के साथ गेंद खेलने गये हैं। गेंद यमुना में गिर गई। कृष्ण यमुना में धुसे और नाग को नाथा। नाग के नाथने की कथा बड़े सुन्दर ढङ्ग से कही गई है। कृष्ण का कदम्ब पर चढ़ना, नाग से बातचीत, नाग का नाथना चित्र के समान स्पष्ट है। इन पद्यों में नाटक का आनन्द आता है।

घरण-कमल बंदों हरि-राइ ।

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अंधे कौं सब कुछ बरसाइ ॥
बहिरो सुनै, गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदों तिहि पाइ ॥

अविगत-गति कछु कहत न आवै ।

ज्यों गूंगें मीठे फल को रस अंतरगत हीं भावै ॥
परम स्वाद सबही जु निरंतर अमित तोष उपजावै ।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै ॥
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन-पद गावै ॥

कंस बुलाइ दूत इक लीन्हो ।

कालीदह के फूल मँगाये, पत्र लिखाइ ताहि कर दीन्हो ॥
यह कहियौ ब्रज जाइ नंद सौं, कंस राज अति काज मँगायो ।
तुरत पठाइ दिएँ ही बनिहैं, भली भाँति कहि-कहि समुझायो ॥

यह अंतरजामी जानी जिय, आपु रहे, बन ग्वाल पठाये ।
सूर स्याम, ब्रज-जन-मुखदायक, कंस-काल, जिय हरष बढ़ाये ॥

पाती बाँचित नंद डराने ।

कालीदह के फूल पठावहु सुनि सबही घबराने ॥
जो मोकों नहि फूल पठावहु, तौ ब्रज वेहुँ उजारि ।
महर, गोप, उपनंद न राखौ, सबहिनि डारौ मारि ।
पुहुप देहु तौ बनै, तुम्हारी, ना तरु गये बिलाइ ॥
सूर स्याम-बलराम तिहारे, माँगौ उरनि धराइ ॥

नंद-घरनि ब्रज-नारि बिचारति ।

ब्रजहि बसत सब जनम सिरानौ, ऐसी करी न आरति ॥
कालीदह के फूल मँगाये, को आनै धौ जाइ ।
ब्रजबासी नातरु सब मारै, बाँधे बलरु कन्हाइ ॥
यहै कहत दोउ नैन डराने नंद-घरनि दुख पाइ ।
सूर स्याम चितवत माता-मुख, बूझत बात बनाइ ॥

पूछी जाइ तात सौं बात ।

मैं बलि जाउँ मुखारविंद की, तुमहीं काज कंस अकुलात ॥
आये स्याम नंद पै धाये, जान्यौ मातु-पिता बिलखात ।
अबहीं दूरि करों दुख इनकों, कंसहि पठै देउँ जलजात ॥
मोसौं कहौ बात बाबा यह, द्रुत करत तुम सोच-बिचार ।
कहा कहौ तुमसौं मैं प्यारे, कंस करत तुमसौं कछु भार ॥
जब तैं जनम भयो है तुम्हरो, केते करबर टरे कन्हाइ ।
सूर स्याम-कुलदेवनि तुमकों, जहाँ-तहाँ करि लियो सहाइ ॥

खेलन खले कुँवर कन्हाइ ।

कहत घोष-निकास जयें, तहाँ खेलें धाइ ॥

गेंद खेलत बहुत बनिहं, आनी कौऊ जाइ ।
 सखा श्रीदामा गये घर, गेंद तुरताहि आइ ॥
 अपने कर लें स्याम देख्यो, अतिहि हरष बढ़ाइ ।
 सूर के प्रभु सखा लीन्हं करत खेल बनाइ ॥

खेलत स्याम, सखा स्थिये संग ।

इक भारत, इक रोकत गेंदाहि, इक भागत करि नाना रंग ॥
 मार परस्पर करत आपु में, अति आनद भये मन माहि ॥
 खेलत ही में स्याम सबनि कौं, जमुना-तट कौ लीन्हें जाहि ॥
 मारि भजत जो जाहि, ताहि सों भारत, लेत आपनी दाउ ।
 सूर स्याम के गुन को जानें, कहत और कछ और उपाउ ॥

लें गये टारि जमुन तट ग्वालनि ।

आपुन जात कमल के कार्जाहि, सखा लिये संग ह्यालनि ॥
 खोरीं मारि भजत उतही कौं, जात जमुन के तीर ।
 इक धावत पाछे उनहीं के, पावत नहीं अधीर ॥
 रौंठि करत तुम खेलत ही में, परी कहा यह बानी ।
 सूर स्याम कौं कहत ग्वाल सब, तुमहि भलें करि जानी ॥

स्याम सखा कौं गेंद चलाई ।

श्रीदामा मुरि अंग बचायो, गेंद परी कालीदह जाई ॥
 घाइ गही तब फेंट स्याम की, देहु न मेरी गेंद मँगाई ।
 और सखा बनि मोकों जानो, मोसों तुम बनि करी ठिठाई ॥
 जानि-बूझि तुम गेंद गिराई, अब दीन्हें ही बनें कन्हाई ।
 सूर सखा सब हंसत परसपर, भली करी हरि गेंद गँवाई ॥

फेंट छाड़ि मेरी देहु श्रीदामा ।

काहे कौं तुम रारि बढ़ावत, तनक बात के कामा ॥
 मेरी गेंद लेहु ता बदलें, बाहें गहत हौ घाइ ।
 छोटी बड़ी न जानत काहूँ, करत बराबरि आइ ॥

हम काहे कौं तुमहि बराबर, बड़े नंद के पूत !
सूर स्याम दीन्हें ही अनिहें, बहुत कहावत धूत ॥

तोसौ कहा धुताई करिहौं ।
जहाँ करी तह देखी नाहीं, कह तोसौं में लरिहौं ॥
मुंह सभहारि तू बोलत नाहीं, कहत बराबरि बात ।
पावहुंगे अपनी कियौ अबहीं, रिसनि कँपावत गात ॥
सुनहु स्याम, तुमहँ सरि नाहीं, ऐसे गये बिलाइ ।
हमसौं सतर होत सूरज प्रभु, कमल देहु अब जाइ ॥

रिसि करि लीन्हौं फेंट छुड़ाइ ।
सखा सब देखत है ठाढ़े, आपुन चढ़े कदम पर घाइ ॥
तारी दै-दै हँसत सब मिल, स्याम गये तुम भाजि डराइ ।
रोवत चले श्रीदामा घर कौं, जसुमति आगे कहिहौं जाइ ॥
सखा-सखा कहि स्याम पुकारचौ, गेंद आपनौं लेहु न आइ ।
सूर स्याम पीतांबर काछे, कूदि परे दह में भराइ ॥

हाय-हाय करि सखनि पुकारचौ ।
गेंद-काज यह करी श्रीदामा, नंद कौं डोटा मारचौ ॥
जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छोकी ।
ठठकि रही द्वारे पर ठाढ़ी, बात नहीं कछु नीकी ॥
आइ अजिर निकसी नंदरानी, बहुरी दोष मिटाइ ।
मंजारी आगे ह्वं आई, पुनि फिरि आंगन आइ ॥
व्याकुल भई निकमि गइ बाहिर, कहें धौं गये कन्हौई ।
बायें काग, दाहिनें खर-स्वर, व्याकुल घरि फिरि आई ॥
खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आंगन इहिं भाँति ।
सूर स्याम कौं टरति जननी, नेकु नही मन साँति ॥

अति कोमल तनु धरयो कन्हाई ।

गये तहाँ जहँ काली सोवत, उरग-नारि देखत अकुलाई ॥
कह्यौ कौन कौ बालक हँ तू बार-बार कही, भागि न जाई ।
छनकहि में जरि भस्म होइगौ, जब देखे उठि जागि जम्हाई ॥
उरग-नारि की बानी सुनिकै, आपु हँसे मन में मुसुकाई ।
मोकोँ कंस पठायौ देखन, तू याकोँ अब देहि जगाई ॥
कहा कंस दिखरावत इनकोँ, एक फूँक ही में जरि जाई ।
पुनि-पुनि कहत भुर के प्रभु को, तू अब काहे न जाइ पराई ॥

अहि कोँ लें अब ब्रजहि दिखाऊँ ।

कमल-भार याही पर लादौं, याकोँ आपन रूप जनाऊँ ॥
भात-पता अतिहीं दुख पावत, दरसन दें मन हरष बढ़ाऊँ ।
कमल पठाइ देउं नृपराजहि, काल्हि कह्यौ ब्रज ऊपर धाऊँ ॥
मन मन करत विचार स्याम यह, अब काली कोँ दाउं बताऊँ ।
सूरदाम प्रभु की यह बानी, ब्रज-बासिनि कोँ दुख बिसराऊँ ॥

उरग लियौ हरि कोँ लपटाइ ।

गद-वचन कहि-कहि मुख भाषत, मोकोँ नहि जानत अहिराइ ॥
लियौ लपेटि चरन तैं सिख लौं, अति इहि मोसौं करी ढिठाइ ।
चाँपौ पूँछ लुकावत अपनी, जुवतिनि कोँ नहि सकत दिखाइ ॥
प्रभु अंतरजामी सब जानत, अब डारौं इहि सकुच मिटाइ ।
सूरदास प्रभु तब विस्तारचौ, काली विकल भयौ तब जाइ ॥

जरीहि स्याम तन अति विस्तारचौ ।

पटपटात ईदत अंग जान्यौ, सरन-सरन सु पुकारचौ ॥
यह बानी सुनतहि वरुनाम, नुरत गये सकुचाइ ।
यह वचन सुनि द्रुपद-मुता-मुख, दीन्हौ बसन बढ़ाइ ॥
यह वचन गजराज सुनायौ, गरुड़ छाँड़ि तहें धाये ।
यह वचन मुनि लाखा-गृह में पांडव जरत बचाये ॥

यह बानी सहि जात न प्रभु सौं, ऐसे परम कृपाल ।
सूरदास प्रभु अंग सकोरघो व्याकुल देख्यो व्याल ॥

नाथत व्याल बिलम्ब न कीन्हौ ।

पग सौं चाँपि घीँच बल तोरघौ, नाक फोरि गहि लीन्हौ ॥
कूदि चढ़े ताके माथे पर, काली करत बिचार ।
स्रवननि सुनी रही यह बानी, ब्रज ह्वँहे अवतार ॥
तेइ अवतरे आइ गोकुल में, में जानी यह बात ।
अस्तुति करन लग्यो सहसौ मुख, धन्य-धन्य जग-तात ॥
बार-बार कहि सरन पुकारघो, राखि-राखि गोपाल ।
सूरदास प्रभु प्रगट भये जब, देख्यो व्याल बिहाल ॥

ब्रज-बासी सब भये बिहाल ।

कान्ह-कान्ह कहि-कहि टेरत हँ, व्याकुल गोपी-नवाल ॥
अब को बस जाइ ब्रज हरि-बिनु, धिक जीवन नर-नारि ।
तुम बिनु यह गति भई सबनि की, कहाँ गये बनवारि ॥
प्रातहि ते जल-भीतर पैंठे, होन लग्यो जुग जाम ।
कमल लिये सूरज प्रभु आवत सब सौं कही बलराम ॥

आवत उरग नाथे श्याम ।

नंद, जसुदा, गोप-गोपी, कहत हँ बलराम ॥
मोर-मुकुट, बिसाल लोचन, स्रवन कुण्डल-लोल ।
कटि पितंबर, बेष नटवर, नृतत फन प्रति डोल ॥
देव दिवि बुंदुभि बजावत, सुमन-गन बरषाइ ॥
सूरस्याम बिलोकि ब्रज-जन, मातु, पितु सुख पाइ ॥

मातु-पिता मन हरष बढ़ायो ।

मोर मुकुट पीतांबर काले, देख्यो निकट जु आयौ ॥
सुर बुंदुभी बजावत गावत, फनप्रति निरत स्याम ।
ब्रजबासी सब मरत जिवाये, हरषि उठौ सब बाम ॥

सोक-सिन्धु बहि गयो तुरतही, सुख कौ सिन्धु बढ़ायो ।
सूरदास प्रभु कंस-निकंदन, कमल उरग पर लायो ॥

लीन्हौ जननि कण्ठ लगाइ ।

अङ्ग पुलकित, रोम गदगद, मुखव आंसु बहाइ ।
मैं तुमहि बरजति रही हरि, जमुन-तट जनि जाइ ।
कह्यौ मेरौ कान्हु कियौ नहि, गयो खलन धाइ ।
कंस कमल मंगाइ पठय, ताते गयउ डराइ ।
मैं कह्यौ निसि सुपन तोसौ, प्रगट भयो सु आइ ।
ग्वाल-संग मिलि गेद खेलत, आयौ जमुना-तीर ।
काहु ले मोहि डारि दीन्हौ, कालिया-दह-नीर ।
यह कही तब उरग मोसौ, किन पठायौ तोहि ।
मैं कही, नृप कंस पठायौ कमल कारन मोहि ।
यह सुनत डरि कमल दीन्हौ, लियौ पीठि चढ़ाइ ।
सूर यह कहि जननि बोधौ, देख्यौ तुमहीं आइ ॥

ब्रज-बासिनि सौ कहत कन्हाई ।

जमुना-तीर आजु सुख कीजै, यह मेरे मन आई ।
गोपिन सुनि अति हरष बढ़ायौ, सुख पायौ नंदराइ ।
घर-घर तें पकवान मंगायौ, ग्वारनि दियौ पठाइ ।
दधि माखन षट रस के भोजन, तुरतहि ल्याये जाइ ।
मातु-पिता-गोपी-ग्वालनि कौ, सूरज प्रभु सुखदाइ ॥

तुरत कमल अब देहु पठाइ ।

सुनहु तात कछु बिलंब न कीजै, कंस चढ़ै ब्रज-ऊपर धाइ ।
कमल मंगाइ लिये तट ऊपर, कोटि कमल तब दिये पठाइ ।
बहुत बिनय करि पाती पठई, नृप लीजै सब पुहुप गनाइ ।
तैसी मोकों आज्ञा दीजै, बहुत धरे जल-माँझ सजाइ ।
सूरदास नृप तुव प्रताप तें, काली आपु गयो पहुँचाइ ॥

सहस सकट भरि कमल चलाये ।

अपनी गमसरि और गोप जे, तिनकौ साथ पठाये ।
 और बहुत काँवरि दधि-माखन, अहिरनि काँधे जोरि ।
 नृप के हाथ पत्र यह दीजौ, बिनती कीजौ मोरि ।
 मेरी नाम नृपति सौ लीजौ, स्थाम कमल ले आये ।
 कोटि कमल आपुन नृप माँग, तीन कोटि हें पाये ।
 नृपति हमहि अपनौ करि जानौ, तुम लायक हम नाहि ।
 सूरदास कहियौ नृप आगे तुमहि छाँड़ि कह जाहि ॥

काहू के कुल तन न बिचारत ।

अविगत की गति कहि न परतु, ब्याध अजामिल तारत ॥
 कौन धौ जाति अरु पाँति विदुर की ताही के प्रभु धारत ।
 भोजन करत दुष्ट घर उनके राज मान भँग टारत ॥
 ऐसे जन्म करम के ओछे ओछे ही अनुसारत ।
 यह सुभाव सूर के प्रभु को भक्तवच्छल प्रण पारत ॥

छाँड़ि मन हरि-विमुखन को सङ्ग ।

जिनके संग कुबुद्धि उपजति हें परत भजन में भङ्ग ॥
 कहा होत पय पान कराय विष नहि तजत भुजंग ।
 कागहि कहा कपूर चुगाय श्वान न्हाय गंग ॥
 खर को कहा अरगजा लेपन मकंद भूषन अंग ।
 गज को कहा न्हाय सरिता बहुरि घर खहि छंग ॥
 पाहन पतित बाण नहि बेधत रीतो करत निषंग ।
 सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न कुजो रंग ॥

गोस्वामी तुलसीदास

वन-गमन

[सं० १५५४—१६८०]

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में सं० १५५४ में हुआ था। कुछ लोगों का ऐसा मत है कि ये सोरों में पैदा हुए थे। किन्तु अभी तक जो प्रमाण मिले हैं उनसे पहला मत ही अधिक ठीक जान पड़ता है। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे तथा माता का नाम हुलसी था। कहा जाता है कि ये मूल नक्षत्र में पैदा हुए थे। इनके पिता ने इन्हें त्याग दिया। बाबा नरहरिदास ने इन्हें पाला-पोसा और शिक्षा-दीक्षा दी। ये अपनी पत्नी पर इतने अनुरक्त थे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर बड़ी नदी पार कर उससे जाकर मिले। स्त्री ने इनकी ताड़ना की। इन्हें विरक्ति हो गई और ये काशी चले आये। इन्होंने बहुत तीर्थाटन किया था और देश-देशान्तर में घूमे थे। संवत् १६३१ में इन्होंने अपना ग्रन्थ रामचरितमानस आरम्भ किया और दो साल सात महीने में उसे समाप्त किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली, पार्वतीमङ्गल, जानकीमङ्गल, रामललानहछू, षरवे रामायण, वैशद्य संदीपनी और कृष्ण गीतावली लिखी हैं। विनयपत्रिका तथा रामचरितमानस के कुछ अंश काशी में लिखे गये थे। ये रामानन्द सम्प्रदाय के स्मार्त वैष्णव थे। जीवन के अन्तिम भाग में ये काशी में ही रहते थे और यहीं संवत् १६८० में इन्की मृत्यु हुई।

तुलसीदास ने भारत के अनेक भागों में भ्रमण करके मनुष्य-समाज का तथा लौकिक ज्ञान बहुत प्राप्त किया था, इसके अतिरिक्त ये अनेक भाषाओं के

पण्डित थे और वेद-शास्त्र का भी ज्ञान रखते थे। इनके समय में कविता की दो भाषाएँ प्रचलित थीं—अवधी और ब्रज; इनका दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। अवधी भाषा का इन्होंने बड़ा संस्कार किया और उसी में रामचरितमानस लिखा। इनके समय में कविता लिखने की पाँच शैलियाँ थीं। दोहा-चौपाई, कवित्त-सवैया, गीत, दोहा, छप्पय। इन्होंने पाँचों शैलियों को अपनाया और सबमें कमाल कर दिया। दोहा-चौपाई में इन्होंने भगवान् राम की कथा रामचरितमानस में लिखी; कवित्त-सवैया में कवितावली लिखी। रामचरितमानस जिस ढङ्ग का ग्रन्थ है उसे प्रबन्ध-काव्य कहते हैं। प्रबन्ध-काव्य में जिस गुणों की आवश्यकता होती है उन सबका इसमें सुन्दर ढङ्ग से निर्वाह किया गया है। कथा, वर्णन की शैली, संवाद, भावों की व्यञ्जना सब ठीक नपे-तुले रखे गये हैं। तुलसीदास राम के भक्त थे। रामचरितमानस भक्ति का अनूठा ग्रन्थ है। भाषा तथा साहित्यिक सुन्दरता भी इसकी अपूर्व है। जहाँ जिस रस का वर्णन है वैसी ही भाषा है। यह ग्रन्थ धार्मिक, सामाजिक शिक्षा, नीति और कर्तव्य-पालन का ज्ञान-कोष है। भक्ति के साथ-साथ इस ग्रन्थ में लोकपक्ष का भी सुन्दर समन्वय है। भगवान् रामचन्द्र को इन्होंने लोकनायक माना है जो संसार से बुराई हटाकर, दुष्टों का नाश कर सुख और शान्ति स्थापित करते हैं। इस पुस्तक में सरल से सरल और गम्भीर से गम्भीर भाव मिलते हैं। अपढ़ और विद्वान् दोनों को इस ग्रन्थ में समान रस मिलता है। इस ग्रन्थ द्वारा शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के भगड़ों को मिटाने की चेष्टा की गई है। यह ग्रन्थ भारतवर्ष में बहुत लोकप्रिय है। इसकी चौपाइयाँ लोगों की ज़बान पर रहती हैं। सभी दृष्टियों से तुलसीदास हिन्दी के बेजोड़ कवि हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ के द्वारा हिन्दू-धर्म की बड़ी रक्षा और सेवा की है। सबसे बड़े साहित्यकार तो ये थे ही।

नीचे पहला अवतरण कवितावली से दिया गया है। यह उस समय की घटना है जब राम को वनवास की आज्ञा दे दी गई है और वे सीताजी तथा लक्ष्मण के साथ वन को चल रहे हैं। राजकुमार और राजकुमारी की वच में क्या कष्ट होता है, कैसे-कैसे लोम मिलते हैं, लोमों की इनके प्रति कितनी भक्ति थी, वच के चिन्तासियों को इन्हें देखकर कितना कुतूहल होता था,

(१४)

सबका सुन्दर चित्र तुलसीदास ने खीचा है। भाषा मधुर तथा सरल है। दूसरा अंश रामचरितमानस से लिया गया है। यह उस समय की घटना है जब भगवान् रामचन्द्र राजा जनक के यहाँ धनुष तोड़ने के लिए गये हैं। सब राजा उपस्थित हैं, बन्दीजनों ने सबका परिचय दिया है। राम को सुकुमार देखकर लोगों के हृदय में सशय होता है। सारा वर्णन बड़ा सजीव है। भाषा की मधुरता, स्वाभाविक अलङ्कार और मानव-स्वभाव का चित्र इस अवतरण में सुन्दरता से व्यक्त किये गये हैं। साहित्य की कोमल भावनाएं इसमें स्पष्ट हैं।

(१)

कीर के कागर ज्यों नृपचीर बिभूषन, उप्पम अंगनि पाई ।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग-लुगाई ॥
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई ।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥

(२)

कागर-कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई ।
मातु-पिता प्रिय लोग सब सनमानि सुभाइ सनेह सगाई ॥
संग सुभामिनि भाइ भलो, दिन द्वे जनु औध हुते पहुनाई ।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ॥

(३)

नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूझत काढ़े ।
जो सुमिरे गिरि-मेरु सिला-कन होत अजाखुर बारिधि बाढ़े ॥
तुलसी जेहि के पव-पंकज तें प्रगटी तटिनी जो हरे अध गाढ़े ।
सो प्रभु स्वै सरित्त तरिबे कहँ माँगत नाव करारे द्वै ठाढ़े ॥

(१५)

(४)

एहि घाट तें थोरिक दूर अहं कटि लौं जल-याह दिखाइहौं जू ।
परसे पगधूर तरं तरनी, धरनी घर क्यों समझाइहौं जू ॥
तुलसी अवलम्ब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू ।
बर मारिय मोहि, बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू ॥

(५)

रावरे दोष न पायें को, पगधूर को भूरि प्रभाउ महा है ।
पाहन तें बन-बाहन काठ को कोमल हैं, जल खाइ रहा है ॥
पावन पायें पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
तुलसी सुनि केवट के बर बँन हँसे प्रभु जानकी ओर रहा है ॥

(६)

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कछू बेद ना पढ़ाइहौं ।
सब परिवार मेरो पार्हा लागि, राजा जू,
हौं बीन ! बत्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ?
गौतम ही धरनी ज्यों तरनी तरंगी मेरी,
प्रभु सों निषाद ह्वंक बाढ न बढ़ाइहौं ।
'तुलसी' के ईस राम रावरी सौं, साँची कहौं,
बिना पग धोये नाथ नाव न चढ़ाइहौं ॥

(७)

पुर तें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दये मग में डग है ।
भलकी भरि भल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वे ॥
फिरि बूझति है "चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वं ?"
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चार चलीं जल चं ॥

(१६)

(८)

“जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े ।
पोंछि पसेउ बयारि करौ, अरु पाँय पखारिहौ भूभारि डाढ़े” ॥
‘तुलसी’ रघुबीर प्रिया-सम जानि कै बैठि बिलम्ब लौं कंटक काढ़े ।
जानकी नाह को नेह लख्यौ पुलकी तनु बारि बिलोचन बाढ़े ॥

(९)

ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे घरे, कर सायक लैं ।
विकटी भ्रुकुटी बड़री अँखियाँ, अनगोल कपोलन की छाँव हैं ॥
‘तुलसी’ अस मूरति आनि हिय जड़ डारि धौं प्राण निछावरि कै ।
सम-सीकर साँवरि देह लसैं मनो राति महा तम तारक मै ॥

(१०)

बल्कल बसन, धनुबान पानि, तून कटि,
रूप के निधान, धन दामिनी-वरन हैं ।
‘तुलसी’ सुतीय संग सहज सुहाये अंग,
नबल कँवल हू ते कोमल चरन हैं ॥
औरें सो बसन्त, और रति, औरें रतिपति,
मूरति बिलोके तन-मन के हरन हैं ।
तापस बेधे बनाइ, पथिक पथै सुहाइ,
चले लोक-लोचननि सुफल करन हैं ॥

(११)

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच, बिलोकहु, री सखी ! मोहि सी ह्वै ।
सब जोग न, कोमल क्यों चलिहैं ? सकुचात मही पद-पंकज छबै ॥
‘तुलसी’ सुनि ग्रामबधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन छबै ।
सब भीति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै ॥

(१७)

(१२)

साँवरे गोरे सलोने सुभाय, मनोहरता जिति मन लियो है।
बान कमान निषंग कसे, सिर सोहै जटा, मुनि बेष कियो है॥
संग लिये विधुबैनी बधू, रति को जेहि रंचक रूप दियो है।
पायन तौ पनहीं न, पयादेहि बधों चलिहैं? सकुचात हियो है॥

(१३)

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी-सी भौहें।
तून सरासन बान धरे, 'तुलसी' बन-भारग में मुठि सोहें॥
सादर बाराहि द्वार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहें।
पूछति ग्रामबधू सिय सों "कहौ साँवरे-से, सखि रावरे को है?"

(१४)

मुनि सुंदर बदन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन, दं सैन तिन्हें सङ्काइ कछू मुसुकाइ चली॥
'तुलसी' तेहि अवसर सोहें सब अवलोकति लोचन लाहु अली।
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिगसी मनो मंजुल कंज-कली॥

(१५)

धरि धीर कहै "चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं।
कहिहैं जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहैं॥
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं।"
'तुलसी' अति प्रेम लगीं पलकें, पुलकीं लखि राम हिये महिहैं॥

(१६)

मुख पंकज, कञ्ज बिलोचन मंजु, मनोज-सरासन सी बनी भौहें।
कमनीय कलेवर, कोमल, स्यामल गौर किसोर, जटा सिर सोहें॥
'तुलसी' कटि तून, धरे धनु बान, अचानक दीठि परी तिरछीहैं।
केहि भाँति कहौ, सजनी ! तोहि सों, मृदु मरति द्वै निवसी मन मोहें॥

धनुष-भङ्ग

चौ०—रामरूप अ सियछवि देखी । नरनारिन्ह परिहरी निमेखी ।
 सोचाहि सकल कहत सकुचाहीं । बधि सन बिनय कराहि मन माहीं ।
 हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई । मति हमार असि देहि सुहाई ।
 बिनु बिचार पन तजि नरनाहू । सीय राम कर करइ बियाहू ।
 जग भल कहहि भाव सब काहू । हठ कीन्है अंतहु उर दाहू ।
 एहि लालसा मगन सब लोगू । बर साँवरो जानकी जोगू ।
 तब बन्दीजन जनक बोलाये । बिरदावली कहत चलि आये ।
 कह नृप जाइ कहहु पन मोरा । चले भाट हिय हरष न थोरा ।

दो०—बोले बन्दी बचनबर सुनहु सकल महिपाल ।

पन गिदेह कर कहाँ हम भुजा उठाइ बिसाल ॥

चौ०—नृप-भुज-बल-विध सिवधन राहू । गरुअ कठोर बिदित सब काहू ।
 रावन बान महाभट भारे । देखि सरासन गर्वाहि सिधारे ।
 सोइ पुरारि को दण्ड कठोरा । राजसमाज आज जेइ तोरा ।
 त्रि-भुवन-जय-समेत बंदेही । बिनाहि बिचार बरइ हठि तेही ।
 सुनि पन सकल भूप अभिलाषे । भट मानी अतिसय मन माषे ।
 परिकर बाँधि उठे अकुलाई । चले इष्टदेवन सिरु नाई ।
 तमकि ताकि तक सिव धन धरहीं । उठइ न कोट भाँति बल करहीं ।
 जिन्ह के कछु विचार मन चाहिँ । चाप समीप महीप न जाहीं ।

दो०—तमकि धरहि धनु मूढ़ नृप उठइ न चलाह लजाइ ।

मनहुँ पाइ भट-बाहु-बल अधिक अधिक गरुआइ ॥

चौ०—भूप सहसबस एकाहि बारा । लगै उठावन टरइ न टारा ।
 डगइ न सम्भुसरासन कैसे । कामीबचन सती मन जैसे ।
 सब नृप भये जोग उपहासी । जैसे बिन बिराग मन्यासी ।
 कीरति बिजय बीरता भारी । चले चापकर बरबस हारी ।
 श्रीहत भये हारि हिय राजा । बँटे निब निज जाइ समाजा ।

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलने । बोले बचन रोष जनु साने ।
दीप दीप के भूपति नाना । आ सुनि हम जो पन ठाना ।
देख बनज धरि मनुजसरीरा । बिबोर आये रनधीरा ।

दो०—कुअँरि मजीहर बिजय बड़ि कीरति अतिकमनीय ।

पावनिहार बिरञ्चि जनु रचेउ न धनुदमनीय ॥

चौ०—कहहु काहि यह लाभ न भावा । काहु न सङ्कुरचाप चढ़ावा ।
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई । तिल भरि भूमि न सके छुड़ाई ।
अब जनि कोउ माखइ भटमानी । बीरबिहीन मही में जानी ।
तजहु आस निज-निज-गृह जाहू । लिखा न बिधि बंदेहिदिबाहू ।
सुकुत जाइ जौ पन परिहरऊँ । कुअँरि कुअँरि रहउ का करऊँ ।
जौ जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई । तौ पन करि होतेउँ न हँसाई ।
जनकबचन सुनि सब नरनारी । देखि जानकिहि भये दुखारी ।
माखे लषन कुटिल भई भौहँ । रदपट फरकत नयन रिसौहँ ।

दो०—कहि न सकत रघु-बीर-डर लगै बचन जनु बान ।

नाइ राम-पद-कमल सिर बोले बचन प्रमान ॥

चौ०—रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहइ न कोई ।
कही जनक जसि अनुचित बानी । बिद्यमान रघु-कुल-मनि जानी ।
सुन्ह भानु-कुल-पङ्कज-भानू । कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू ।
जौ तुम्हार अनुसासन पावउँ । कन्दुक इव ब्रह्मांड उठावउँ ।
कांचे घट जिमि डारउँ फोरी । सकउँ मेरु मूलक इव तोरी ।
तब प्रतापमहिमा भगवाना । का बापुरो पिनाक पुराना ।
नाथ जानि अस अग्रसु होऊ । कौतुक करउँ बिलोकिय सोऊ ।
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ । जोजन सत प्रमान लेइ धावउँ ।

दो०—तोरउँ छत्रकण्ड जिमि तब प्रतापबल नाथ ।

जौ न करउँ प्रभु-पद-सपथ कर न धरउँ धनु भाथ ॥

चौ०—लषन सकोप बचन जब बोले । डगमगानि महि दिगगज डोले ।
सकल लोक सब भूप डेराने । सियहिय हरष जनक सकुचाने ।

गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं । मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं ।
 सयर्नहि रघुपति लषन निहारे । प्रेम समेत निकट बंठारे ।
 बिस्वामित्र समय सुभ जनी । बोले अति-सनेह-मय बानी ।
 उठहु राम भंजहु भव-पा । भेटहु तात जनक परितापा ।
 मुनि गुरुबचन चरन सिरु नावा । हरष बिषाद न कछु उर आवा ।
 ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये । ठवनि जुबा मृगराज लजाये ।

बो०—उदित उदय-गिरि-मंच पर रघुबर बालपतंग ।

बिगसे संतसरोज सब हरषे लोचनभृंग ॥

चौ०—नृपन्ह केरि आसा-निसि नासी । बचन नखतअवली न प्रकासी ।
 मानी महिप कुमुद सकुचाने । कपटी भूप उलूक लुकाने ।
 भये बिसोक कोक मुनि देवा । बरसाहि सुमन जनावहि सेवा ।
 गुरुपद बन्दि सहित अनुरागा । राम मुनिन्ह सन आयसु मांगा ।
 सहजहि चले सकल जग-स्वामी । मत्त - मंजु - बर - कुंजर - गामी ।
 चलत राम सब-पुर-नर नारी । पुलक - पूरि - तन भये सुखारी ।
 बंदि पितर सब सुकृत सँभारे । जौ कछु पुन्य प्रभाव हमारे ।
 तौ सिवधनु मृनाल की नाई । तोरहि राम गनेस गोसाई ।

बो०—रामहि प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ ।

सीतामातु सनेहबस बचन कहइ बिलखाइ ॥

चौ०—सखि सब कौतुक देख निहारे । जेउ कहावत हितु हमारे ।
 कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं । ए बालक अस हठ भल नाहीं ।
 रावन बान छुआ नहि चापा । हारे सकल भूप करि दापा ।
 सो धनु राज-कुअर-कर देहीं । बालमराल कि मन्दर लेहीं ।
 भूपसयानप सकल सिरानी । सखि बिधिगति कहि जाति न जानी ।
 बोली चतुर सखी मृदु बानी । तेजवन्त लघु गनिय न रानी ।
 कहें कुम्भज कहें सिन्धु अपारा । सोखेउ मुजस सकल संसारा ।
 रविमंडल देखत लघु लागा । उदय तासु त्रिभुवन-तम भागा ।

बो०—मन्त्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर मुर सब ।

महा-मत्त-गज-राज कहँ बस कर अंकुस खर्ब ॥

चौ०—काम कुसुम-धनु-सायक लीन्हे । सकल भुवन अपने बस कीन्हे ।
देखि तजिय संसय अस जानी । भंजब धनुष राम मुनु रानी ।
सखीबचन सुनि भइ परतीती । मिटा बिषाद बढ़ी अतिप्रीती ।
तब रामहि बिलोकि बंदेही । सभय हृदय बिनवति जेहि तेही ।
मनहीं मन मनाव अकुलानी । होउ प्रसन्न महेस भवानी ।
करहु सुफल आपन सेवकाई । करि हित हरहु चापगराई ।
गननायक बरदायक देवा । आजु लगे कीन्हेउँ तब सेवा ।
बार बार सुनि बिनती मोरी । करहु चापगरता अति थोरी ।

दो०—देखि देखि रघु-बीर-तन मुर मनाव धरि धीर ।

भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर ॥

चौ०—नीके निरखि नयन भरि सोभा । पितुपनु सुमिरि बहुरि मन छोभा ।
अहह तात दारुन हठ ठानी । समुभक्त नहि कछु लाभ न हानी ।
सचिव सभय सिख बेइ न कोई । बुधसमाज बड़ अनुचित होई ।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कटोरा । कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ।
बिधि केहि भाँति घरउँ उर धीरा । सिरिस-सुमन-कन बेधिय हीरा ।
सकल सभा कै मति भइ भोरी । अब मोहि संभु-चाप-गति तोरी ।
निजजडता लोगन्ह पर डारी । होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी ।
अस्त्रियस्त्रिय सीयमन महीं । लवनिमेष जुषसय सम जाहीं ।

बो०—प्रभुहि चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल ।

खेलत मनसिज-मीन-जुग जनु बिधुमंडल डोल ॥

चौ०—गिरा अलनि मुखपंकज रोकी । प्रकट न लाजनिसा अवलोकी ।
लोचनजल रह लोचनकोना । जैसे परम कृपन कर सोना ।
सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी । धरि धीरज प्रतीति उर आनी ।

तन मन बचन मोर पन साचा । रघु-पति-पद-सरोज चितु राचा ।
 तो भगवान सकल-उर-बासी । करिहहि मोहि रघुबर के दासी ।
 जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू ।
 प्रभुतन चितइ प्रेमपन ठाना । कृपानिधान राम सब जाना ।
 स्मियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे । चितव गरुड लघुव्यालहि जैसे ।

दो०—लषन लखेउ रघु-बंस-मनि ताकेउ हरिकोदंड ।

पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्म ॥

चौ०—दिसि कुंजरहु कमठ आह कोला । धरहु धरान धारि धीर न डोला ।
 राम चहहि सङ्करधनु तोरा । होहु सजग मुनि आयसु मोरा ।
 चापसमीप राम जब आये । नरनारिन्ह सुर मुकुत मनाये ।
 सब कर ससय अरु अज्ञान । मन्दमहीपन्ह कर अभिमान् ।
 भृगुपति केरि गरबगरुआई । सुर-मुनि बरन्ह केरि कदराई ।
 सिय कर सोचि जनकपछितावा । रानिन्ह कर दारुन-दुख-दावा ।
 संभुचाप बड बोहित पाई । चढ जाइ सब सङ्ग बनाई ।
 राम - बाहु - बल सिधु अपारु । चहत पार नहि कोउ कनहारु ।

दो०—राम बिलोके लोग सब चित्र-लिखे से देखि ।

चितई सीय कृपयातन जानी बिकल बिसेखि ॥

चौ०—देखी बिपुल बिकल ब्रंदेही । निमिष बिहात कलपसम तेही ।
 तृषित बारि बिनु जो तन त्यागा । मुये करइ का सुधा तडागा ।
 का बरषा जब कृषी मुखाने । समय चुके पुनि का पछिताने ।
 अस जिय जानि जानकी देखी । प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी ।
 गुरहि प्रनाम मनाहि मन कीन्हा । अतिलाघव उठाइ धनु लीन्हा ।
 दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ । पुनि नभ - धनु - मंडल - सम भयऊ ।
 लेत चढावत खंचत गाढे । काहु न लखा देख सब ठाढे ।
 तेहि छन राम मध्य धनु तोरा । भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा ।

छंद—भरे भवन घोर कठोर रव राबबाजि तजि मारग चले ।
 चिक्करीह दग्गज डोल माहि अह कोल कूरम कलमले ॥
 सुर असुर पान कर कान दीन्ह सकल बिकल बिचारहीं ।
 कोदंड बडड राम तुलस जयति बचन उचारहीं ॥

सी०—सङ्करचाप जहाज सागर रघुबर-बाहु-बल ।

बूड सी सकल समाज चह जा प्रथमहि मोहबस ॥

ची०—प्रभु दोउ चापखंड माहि डारे । देखि लोग सब भये सुखारे ।
 कौसिक-रूप-पयोनिधि पावन । प्रमबार अवगाह सुहावन ।
 राम-रूप राकेस निहारी । बढत बाँच पुलकावाँल भारी ।
 बज्जे नभ गहबहे निसाना । देवबधू नार्चाहि कारि गाना ।
 ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीस । प्रभाहि प्रसंसाहि देहि असीसा ।
 बरषाहि सुमन रङ्ग बहु माला । गावाहि किन्नर गीत रसाला ।
 रही भुवन भरि जय जय बानी । धनुष-भग-धुनि जात न जानी ।
 मुदित कहहि जहँ तहँ नर नारी । भंजेह राम संभुधनु भारी ।

दी०—बदी माम्बध सूतगन बिरद बदाहि मतिधीर ।

कराहि निछावरि लोग सब हय गय मनि धन चीर ॥

ची०—भाँभि मृदङ्ग सङ्ग सहनाई । भोरि डोल दुन्दुभी मुहाई ।
 बाजहि बहु बाजन् मुहाय । जह तह जबतिन मङ्गल गाये ।
 सखिन्ह सहित हरषी सब रानी । सुखत धान् परा जन् पानी ।
 जनक लहेउ मुख सोच बिहाई । पेरत यके थाह जन् पाई ।
 श्रीहृत भये भूप धनु टूटे । जैसे दिवस दीप छबि छूटे ।
 सीयसुखाह बरनिय केहि भांती । जन् चातकी पाइ जलस्वाती ।
 रामाहि लखन बिलोकत कंसे । ससिहि चकोरकिसोरकु जैसे ।
 सतानन्द तब अम्यसु दीन्हा । सीता गमन राम पाहि कीन्हा ।

दी०—सङ्ग सखी सुन्दर चतुर गावाहि मङ्गलचार ।

गवनी बाल-मराल-गति सुखमा अङ्ग अपार ॥

मीरा

{ सं० १५७३-१६०३ }

मीराबाई जोधपुर राज्य के प्रतिष्ठाता राव जोधाजी की प्रपौत्री तथा रत्नसिंह राठौर की पुत्री थी। इनका विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज के साथ हुआ था। ब्रचपन से ही इनकी भक्ति कृष्ण की ओर थी और उनकी पूजा-अर्चना में ही ये लीन रहा कहती थी। विवाह के थोड़े ही दिनों बाद इनके पति का परलोकवास हो गया। इसके पश्चात् इनकी भक्तिभावना और भी बढ़ गई। अपने परिवार के लोगों की भी परवा न करके ये सदा साधु-सन्तों के साथ मन्दिर में भगवान् कृष्ण की पूजा तथा अर्चना किया करती थीं। मूर्ति के सामने भक्ति में विह्वल होकर नाचती थीं। इनका यह आचरण राजकुल को अच्छा नहीं लगता था और इन्हें विष देने की भी चेष्टा की गई किन्तु कहा जाता है कि इन पर विष का कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। घरवालों के व्यवहार से तङ्ग आकर ये वृन्दावन तथा द्वारका चली गईं और वहाँ मन्दिरों में कीर्तन करती थीं। वहाँ इनका सम्मान देवियों का-सा होता था? किंवदन्ती है कि इन्होंने तुलसीदासजी को एक पत्र लिखकर पूछा था कि घरवालों का ऐसा व्यवहार है, क्या करना चाहिए। अब तक मीराबाई के जन्म-मरण की तिथि का जो पता लगा है उससे यह घटना असत्य-सी जान पड़ती है, क्योंकि मीराबाई की मृत्यु संवत् १६०३ में ही चुकी थी।

इनकी कविता की भाषा ब्रज है जिसमें स्थल-स्थल पर गुजराती तथा राज-स्थानी का भी समावेश है। इनके चार ग्रन्थों का नाम मिलता है। ये सब गेय पद हैं। इनकी भक्ति मधुर-भाव की है। इन्होंने भगवान् को अपने पति के

(२५)

रूप में माना है। इनके पदों में भक्ति की तल्लीनता विशेष रूप से दिखाई देती है। इन्होंने वियोग शृङ्गार का बड़ा मार्मिक तथा मधुर वर्णन किया है। ये सचमुच कृष्ण के प्रेम में दीवानी थी और यह दीवानापन इनके प्रत्येक पद में झलकता है। इनकी गणना भारत के प्रधान भक्तों में है।

(१)

बसो मेरे नैनन में नंदलाल ।

मोहनी मूरति सांवरी सूरति नैना बने बिसाल ।

अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजंती माल ।

छुद्रघंटिका कटि-तट सोभित नूपुर शब्द रसाल ।

मीरा प्रभु संतन मुखदाई भगत बछल गोपाल ।

(२)

मन रे परसि हरि के चरन ।

सुभग शीतल कँवल कोमल, त्रिबिध ज्वाला हरन ।

जिन चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरन ।

जिन चरण ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी सरन ।

जिन चरण ब्रह्माण्ड भेटघो, नख सिख सिरी धरन ।

जिन चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम धरन ।

जिन चरण काली नाग नाथ्यो, गोप लीला करन ।

जिन चरण गोबरधन धारणो इन्द्र को प्रब हरन ।

दासि 'मीरा' लाल गिरधर, अगम तारनतरन ।

(३)

मैं गोविन्द के गुन गाना ।

राजा रुठे नगरी राखे, हरि रुठचौ कहूँ जाना ।

राना भेजा जहर-पियाला, अमरित करि पी जाना ।

डिबिया में भेज्या जु भुजंगम, सरलिग्राम करि जाना ।

'मीरा' तो अब प्रेमदिवानी, साँवलिया बर पाना ।

(२६)

(४)

हरि तुम हरो जन की भीर ।
द्रोपदी की लाज राख्यो तुम बढ़ायो चीर ॥
भक्त कारन रूप नरहरि धरयो आप सरीर ।
हरिनकस्यप मार लीन्हो धरयो नाहिन धीर ॥
बूड़ते गजराज राख्यो कियो बाहर नीर ।
दास 'मीरा' लाल गिरधर दुख जहाँ तहें पीर ॥

(५)

आली म्हाँने लागे बन्दाबन नीको ।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसन गोविंद जी को ।
निरमल नीर बहत जमना में भोजन दूध दही को ।
रतन-सिंघासन आप बिराजे मुकुट धरयो तुलसी को ।
कुजन कुजन फिरत राधिका सबद मुनत मुरली को ।
'मीरा' के प्रभ गिरधर नागर भजन बिना नर फीको ।

(६)

म्हानं चाकर राखो जी, म्हाने चाकर राखो जी ।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसन पासूँ ।
बिन्दाबन की कुंजगलिन में, तेरी लीला गासूँ ।
चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची ।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातों सरसी ।
भोर कुमुद पीताम्बर सोहें, गल बैजन्ती माला ।
बिन्दाबन में धेनु चरावे, मोहन मुरलीवाला ।
हरे हरे नित बस बनाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी ।
साँवरिया के दरसन पाऊँ, पहर कुसुम्भी सारी ।
जोगी आया जोग करन कूँ, तप करने सन्यासी ।
हरी भजन कूँ साधू आया, बिन्दाबन का बासी ।
'मीरा' के प्रभु गहिर गंभीरा, सदा रहो जी धीरा ।
आधी रात प्रभु बरसन देंहें, प्रेमनदी के तीरा ।

(२७)

(७)

माई री में तौ लीयो गोविन्दो मोल ।
कोई कहै छाने कोई कहै, छुपके लियो री बजन्ता ढोल ।
कोई कहै मुंहघो कोई कहै सुहँघो लियो री तराजू तोल ।
कोई कहै कारो कोई कहै गोरो लियो री अमोलिक मोल ।
या ही कूँ सब लोग जानत : लिये री आँखी खोल ।
मीराँ कूँ प्रभु दरसन दीज्यो प्रब जनम कौ कोल ।

(८)

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥
छाँड़ि दई कुल की कानि कहा करिहँ कोई ।
संतन ढिग बैठि बैठि लोक-लाज खोई ॥
अँसुवन-जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई ।
अब तो बेलि फँलि गई आनंद-फल होई ॥
भगति देखि राजि हुई, जगत देखि रोई ।
वासी 'मीरा' लाल गिरिधर तारो अब मोई ॥

रसखान

(स० १६४०—१६८५)

रसखान पठान मुसलमान थे और इन्ही के कथनानुसार ये पठान बादशाहों के वंशज थे। इनका जीवन प्रेम से ओत प्रोत था। ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे और जीवन के पिछले भाग में वृन्दावन में ही निवास करते थे। इनका रचना-काल संवत् १६४० के पश्चात् माना गया है। इनकी दो पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हुई हैं—प्रेमबाटिका तथा मुजान-रसखान। प्रेमबाटिका संवत् १६७१ में लिखी गई है।

(२८)

इनकी भाषा सरल ब्रजभाषा है जिसमें कोमलता, मधुरता तथा प्रसाद गुण पाये जाते हैं। इनकी कविता शृङ्गारमयी है और तुरत हृदय पर प्रभाव डालने-वाली है। अधिकांश रचनाएँ श्रीकृष्ण के लीला-पक्ष को लेकर ही हुई हैं। इनकी रचनाओं में अनुप्रासों की सुन्दर छटा है किन्तु भाषा में शिथिलता नहीं आने पाई है। भक्तों के हृदय को इनकी रचना तुरत स्पर्श करती है। ब्रजभूमि से इन्हें कितना प्रेम था यह इनके पहले दोनों सवैयाँ से ज्ञात होता है। मुरली, गाय चराने इत्यादि विषयों पर इन्होंने मनोहर छन्द लिखे हैं। भगवान् की सगुण भक्ति के ये सच्चे उपासक थे जो नीचे दिये छन्दों से ज्ञात होता है। इनकी कविता से इनकी भक्ति का रसपान करके भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था—
'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।'

(१)

मानुष हौं तौ वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँकारन ॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो घरघो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरौ करौं, मिलि कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन ॥

(२)

या लकुटी अह कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नबो निधि को सुख, नन्द की गाइ चराइ बिसारौं ॥
'रसखानि' कबौं इन आँखिन सों, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौत के धाम, करील की कुंजन ऊपर वारौं ॥

(३)

धूर भरे अति सोभित स्यामजू, तँसी बनी सिर मुन्दर चौटी।
खेलत खात फिरें अँगना, पग, पैजन्नी बाजती, पीरी कछोटी ॥

(२९)

वा छबि को 'रसखानि' बिलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी ।
काग के भाग कहा कहिये हरि, हाथ सों लें गयो माखन रोटी ॥

(४)

सेस महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड, अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥
नारद से सुक ब्यास रटें, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियां, छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं ॥

(५)

कानन दे अँगुरी रहिबो, जबहीं मुरली धुनि मन्द बजैहैं ।
मोहिन तानन सो 'रसखानि', अटा चढ़ि गोधन गैहैं तो गैहैं ॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि, काल्हि कोऊ कितनो समुझैहैं ।
माई री वा मुख की मुसुकानि, संभारी न जैहैं न जैहैं न जैहैं ॥

(६)

उनही के सनेहन सानी रहै, उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं ।
उनहीं के सुनैन औ बैन, त्यों सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं ॥
उनहीं सँग डोलन में 'रसखानि', सबं सुख-सिंधु आघानी रहैं ।
उनहीं बिन ज्यों जलहीन हूँ, मीन सी आँख मेरी अंसुवानी रहैं ॥

गुरु नानक

(सं० १५२६—१५९६)

गुरु नानक लाहीर में एक खत्री-कुल में पैदा हुए थे। ये भक्त थे, कबीर के समान विशेष पढ़े-लिखे न थे। इनकी रचनाएँ कुछ पंजाबी भाषा में हैं, कुछ ब्रज-भाषा में। पंजाबी तथा खड़ी बोली का पुट भी है। इनकी रचनाएँ भगवद्-भक्ति के सम्बन्ध में हैं।

नानक की कविता में निर्गुण परमात्मा की उपासना है। नीचे के अवतरण से पता चलेगा कि इनकी भाषा कितनी सरल है। इन्होंने साधारण ढङ्ग से समाज को उपदेश दिये हैं। इनकी अलग कोई रचना नहीं मिलती। मुख्य ग्रन्थ साहब में इनकी रचनाएँ समूहीत हैं।

(१)

जागो रे जिन जागना, अब जागनि की बर्रि ।
 फेरि कि जागो नानका, जब सोवउ पाँव पसार ॥
 मित्रा दोस्त माल धन, छँडि चले अति भाइ ।
 संगि न कोई 'नानका', उड़ु हंस अकेला जाइ ॥
 जेही पीरिति लग दिया, तोड़ निबाह होइ ।
 'नानक' दरगह जाँकियाँ, ठक्क न सक्के कोइ ॥
 सूरा एकन आँखियन, जो लड़नि दलों में जाय ।
 सूरे सोई 'नानका' जो, मंनण हुकुम रजाय ॥
 हिरदे जिनके हरि बसे, से जन कहियहि सूर ।
 कही न जाई 'नानका', पूरि रह्या भरपूर ॥
 मन की दुखिषा ना मिटै, मुक्ति कहाँ ते होइ ।
 कउड़ी बदले 'नानका', जन्म चल्या नर खोइ ॥
 जिन बेले अमृत बसे, जीयाँ होवे दाति ।
 तिन बेले तू उठि बहु, चिह पहरे पिछली राति ॥

(२)

जो वर दुख म दुख नहि मानै ।
 मुख सनेह अरु भय नहि जाके कंचन माटी जानै ॥
 नहि निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना ।
 हर्ष शोक तें रहे नियारो नहि मान अपमाना ॥
 आसा मनसा सकल न्यागि के जग ते रहे निरासा ।
 काम क्रोध जेहि परसे नाहिन तेहि घट ब्रह्मनिवासा ॥

(३१)

गुरु किरपा जेहि नर पे कीन्ही तिन यह जुगति पिछानी ।
'नानक' लीन भयो गोविन्द सों ज्यों पानी सँग पानी ॥

(३)

सुमरन कर ले मेरे मना ।

तेरि बिति जाति उमर हरिनाम बिना ॥
कूप नीर बिन घेनु छीर बिन मंदिर दीप बिना ।
जैसे तरुवर फल बिन हीना तैसे प्राणी हरनाम बिना ॥
देह नैन बिन रैन चंद बिन धरती मेह बिना ।
जैसे पंडित वेद विहीना तैसे प्राणी हरनाम बिना ॥
काम क्रोध मद लोभ निहारो छाड़ दे अब संतजना ।
कहे नानकशा' सुन भगवंता या जग में नाहि कोइ अपना ॥

(४)

साधो मन का मान त्यागो ।

काम क्रोध संगति दुर्जन की ताते अहनि स भागो ॥
सुख दुख दोनों सम करि जानै और मान अपमाना ।
हर्ष शोक ते रहै अतीता तिन जग तत्त्व पिछाना ॥
अस्तुति निन्दा दोऊ त्यागै खोजै पद निरबाना ।
जन 'नानक' यह खेल कठिन है किनहूँ गुरुमुख जाना ॥

(५)

काहे रे बन खोजन जाई ।

सब निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई ॥
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकर माँहि जस छाई ।
तैसे ही हरि बसै निन्तर घट ही खोजो भाई ॥
बाहर भीतर एकै जानो यह गुरु ज्ञान बताई ।
जन 'नानक' बिन आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई ॥

कबीर साहब

(१४४६—१५७५)

कबीर के जीवन के सम्बन्ध में केवल उनकी रचनाएँ तथा परम्परागत कथाओं का सहारा है। ये काशी में लहरतारा के ताल के पास पाये गये थे और इन्हें एक जोलाहे परिवार ने पाला-पोसा। ये रामानन्द के शिष्य थे। इन्होंने साधुओं की बड़ी संगति की। ये पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु इस सङ्गति से इन्होंने हिंदू-धर्म और हिंदू धार्मिक पुस्तकों के बारे में बहुत कुछ सुना। मुसलमान फ़कीरों से भी सुना। इस प्रकार सुन-सुनाकर इनका ज्ञान बहुत विस्तृत हो गया था। योगियों से इन्होंने योग के विषय की बहुत सी बातें सुन ली थीं। ये ज्ञान-मार्ग की निर्गुण-उपासना के सन्त थे। इनका सम्प्रदाय कबीर पंथ कहा जाता है। इस सम्प्रदाय में हिन्दू-मुसलमान दोनों हैं।

कबीर ने दोहे और गाने के पद भी लिखे हैं। कबीर की भाषा 'सधुक्कड़ी' भाषा कही जाती है। इसका अर्थ वह भाषा है जिसमें राजस्थानी और पंजाबी मिली हों। कहीं-कहीं गीतों में ब्रजभाषा तथा पूरबी बोली भी आई है। नीचे दिये हुए उनके दोहों में नीति की शिक्षाएँ हैं। इन दोहों से जान पड़ता है कि ये उपदेश देने के लिए तथा प्रचार के लिए लिखे गये हैं।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हूं मैं नाहिं।

सब अधियारा मिटि गया, दीपक रेखा माहिं ॥

कया कमंडल भरि लिया, अच्छर निर्मल नीर।

तन मन जीवन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर ॥

| भारी कहूँ तो बहु डरूँ, हलका कहूँ तो भूठ।

| मे का जानौ राम को, ननों कभी न डोठ ॥

आस एक जिय राम की, वूजी आस निरास ।
 पानी माहें घर करें, ते भी मरे पियास ॥
 कहा किया हम आइ करि, कहा करेंगे जाइ ।
 इत के भये न उत्त के, चाले मूल गँवाइ ॥
 करता था सो क्यों किया, अब करि क्यों पछिताइ ।
 बोया पेड़ बबूर का, आम कहाँ ते खाइ ॥
 उत तें कोइ न आवई, जासो पूछूं धाइ ।
 इत तें सबही जात हैं, भार लबाइ लबाइ ॥
 पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
 एक आखर पीउ का, पढ़े सो पंडित होय ॥
 ऊँचे कुल का जनमिया, करनी ऊँच न होय ।
 सुबरन कलस सुरा भरा, साधो निन्दा सोय ॥
 संत न छाँड़ें संतई, कोटिक मिले असंत ।
 चंदन भुअंगम बँठिया, सीतलता न तजन्त ॥
 ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय ।
 अपना तन सीतल करे, औरन को मुख होय ॥
 जाको जेता निरमया, ताको तेता होय ।
 रत्ती घटें न तिल बढ़े, जो सिर कूटें कोय ॥
 साईं से सब होता है, बंदे से कछु नाहि ।
 राई तें परबत करे, परबत राई माहि ॥
 कबिरा घास न निदिये, जो पावों तर होय ।
 उड़िके परे जो आँखि में, खरा दुहेला होय ॥
 पपिहा पन को ना तजै, तजै तो तन बेकाज ।
 तन छूटे तो कछु नहीं, पन छूटे है लाज ॥

सिर राखे सिर जाता है, सिर काटे सिर होय ।
 जंसे बाती दीप की, कटे उँजोरा होय ।
 माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर ।
 कर का मनका डार दे, मन का मनका फेर ॥
 तन सारथ मन पाहरू, मनसा उतरी आय ।
 कोउ काहू का है नहीं, देखा ठोकि बजाय ॥
 गोधन गजधन बाजिधन, और रतनधन खान ।
 जो आवें संतोष धन, सब धन धूर समान ॥
 जग में बेरी कोइ नहीं, जो मन सीतल होय ।
 यह आपा तूँ डाल दे, दया करे सब कोय ॥
 खोदखाद धरती सहै, काटकूट बनराय ।
 कुटिल वचन साधू सहै, और से सहा न जाय ॥
 साँचे साप न लागई, साँचे काल न खाय ॥
 साँचे को साँचा मिलै, ताँनै माँहि समाय ॥
 रुख, सूखा खाय करि, ठंडा पानी पीव ।
 देखि पराई चूपड़ी, क्यों ललचाओ जीव ॥
 प्रेम प्रीति से जो मिलै, तासों मिलिए धाय ।
 अंतर राखे जो मिलै, तासों मिलै बलाय ॥
 नवन नवन बहु अंतरा, नवन नवन बहु बान ।
 यह तीनों बहुतै नवै, चीता, चोर, कमान ॥

द्वितीय खण्ड

नीति-काव्य

भक्ति-काल के पश्चात् हिन्दी में साहित्य का वह युग आया जिसे रीति-काल कहते हैं। इस समय साहित्य के एक बँधे ढर्रे पर साहित्यिक शैली के सम्बन्ध में लोग रचना करते थे। इसी समय कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने व्यक्ति तथा समाज के मृदार की दृष्टि में ऐसा साहित्य लिखा जो बहुत हितकर था। उन्होंने रीति की परम्परा नहीं अपनाई। अच्छे-अच्छे उपदेशों से, हितकर वाक्यों में, हिन्दी-साहित्य को अलंकृत किया। इनकी रचनाओं से हिन्दी में एक नवीनता आई। इसका एक प्रभाव यह पड़ा कि रीति-काव्य की रचना करनेवालों ने भी नीति पर लिखा जैसे रहीम और विहारी। नीति की रचना करनेवालों में बृन्द, गिरधर, वैताल आदि मुख्य हैं। नीतिवाले कवियों की रचनाएँ विशेषतः दोहों में हुई हैं। कुछ लोगों ने कुण्डलियाँ भी लिखी हैं। यह न समझना चाहिए कि नीतिकार कवि केवल एक ही युग में हुए हैं। सभी युगों में कुछ कवि ऐसी रचना करते हैं। इस युग में भी दीनदयाल गिरि, शंकर, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने नीति की रचनाएँ की हैं।

—

रहीम

(सं० १६१०—१६८३)

रहीम खाँ का पूरा नाम अब्दुरहीम खानखाना था। अकबर के अभि-
भावक बेरमखाँ खानखाना के पुत्र थे। आप अनेक भाषाओं के विद्वान्,
दानी, परोपकारी तथा काव्य-मर्मज्ञ थे। इन्होंने रहीम-सतसई, बरवै नायिकाभेद,
शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक तथा रास-संचाध्यायी पुस्तकें लिखी हैं। इनकी कुछ
और फुटकल रचनाएँ मिली हैं जिनका संग्रह रत्नावली नाम से प्रकाशित
हुआ है।

इनकी भाषा सरल ब्रजभाषा है। सरसता तथा मधुरता इनकी भाषा के
गुण हैं। ब्रज तथा अवधी दोनों पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी
कविता कोरी कल्पना नहीं है। सच्ची अनुभूति इनकी रचनाओं से प्रकट
होती है जिनमें मार्मिकता कूट-कूटकर भरी है। इनकी उचितयाँ इतनी सुन्दर
हैं कि लोगों के हृदय में घर कर गई हैं।

नीचे के इनके दोहे नीति-सम्बन्धी हैं। दोहों में नीति के निर्वाह के लिए
इन्होंने जो उपमाएँ दी हैं वे बहुत ही स्पष्ट और जीवन के प्रत्येक क्षण में
दिखाई पड़नेवाली हैं, दुरूह तथा जटिल नहीं हैं। एक बात और ध्यान
देने योग्य है। कवि मुसलमान होते हुए अपनी उपमाएँ और रूपक विदेशी
या इसलामी धर्म से नहीं देता। इसी देश की कथाएँ हैं, भारतीय घटनाओं
की ओर ही संकेत है।

मांगे घटत रहीम पब, कितो करौ बड़ काम।

तीन पेंड़ बसुधा करी, तऊ वामन नाम ॥ १ ॥

नाद रीझि तन देत भृग, नर घन हेत समेत।

ते 'रहीम' पशु ते अधिक रीझे हू नहि देत ॥ २ ॥

रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नहीं गर्व को लेस ।
 भार धरत संसार को, तऊ कहावत सेस ॥ ३ ॥
 रहिमन नीचन संग बसि; लयत कलंक न काहि ।
 दूध कलारिन हाथ लखि, मब समर्थ सब ताहि ॥ ४ ॥
 रहमिन वे बर मर चुके, जे कछु भाँगन जाहि ।
 उनसे पहिले वे मुये, जिन मुख निकसत नाहि ॥ ५ ॥
 अमृत ऐसे बचन में, रहमिन रिस की गाँस ।
 जंसे मिसिरिहु में मिली, निरस बाँस की फाँस ॥ ६ ॥
 रहमिन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।
 जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि बेइ ॥ ७ ॥
 तरवर फल नाहि खात हैं, सरवर पियाहि न पान ।
 कहि रहीम पर-काज हित, संपति सुर्चाहि सुखान ॥ ८ ॥
 रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि ।
 जहाँ काम आवैं सुई, कहा करे तरवारि ॥ ९ ॥
 रीति प्रीति सबसों भली, बैर न हित मित गीत ।
 रहिमन याही जनम की, बहुरि न सङ्गति होत ॥ १० ॥
 तबही लग जीबो भलो, दीबो परे न धीम ।
 बिन दीबो जीबो जगत, हमहि न रुचै रहीम ॥ ११ ॥
 रहमिन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वैं जात ।
 नारायण हूँ को भयो, बावन आँगुर मस्त ॥ १२ ॥
 समय दशा कुल देखि के, लोग करत सममान ।
 रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान ॥ १३ ॥
 सर सूखे पंछी उड़ें, ओरे सरन सम्राहि ।
 दीन मीन बिन पच्छ के, कहु रहीम कहैं जाहि ॥ १४ ॥
 दीन सबन को लखत है, दीनाहि लखै न कोय ।
 जो रहीम दीनाहि लखै, दीनबन्धु सम होय ॥ १५ ॥
 राम न जाते हरिन संग, सीय न रावन साथ ।
 जो रहीम भावी कतहुँ, होति आपने हाथ ॥ १६ ॥

जो रहीम ओछो बढ़े, तौ तितही इतराय ।
 प्यादे से फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥ १७ ॥
 खीरा को मुंह काटि के, मलियत लोन लगाय ।
 रहिमन करये मुखन की, चहिए यही सजाय ॥ १८ ॥
 जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कृसग ।
 चन्दन-विष व्यापत नहीं, लपट रहत नजग ॥ १९ ॥
 जो बड़ैन को लघु कहौ, नहि रहीम घाट जाहि ।
 गिरिधर मुरलीधर कहे, कछु दुख मानत नाहि ॥ २० ॥
 कौन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भौ धीम ।
 केहि की प्रभुता नहि घटी, पर घर गये रहीम ॥ २१ ॥
 सब कोऊ सब सों करै, राम जुहार सलाम ।
 हित रहीम तब जानिए, जा दिन अंटकं काम ॥ २२ ॥

बिहारीलाल

(स० १६६०—१७२०)

कवि बिहारीलाल माथुर चौबे थे और ग्वालियर के पास बसुवा गोविन्द-पुर में पैदा हुए थे। ये जयपुर के महाराज जयसिंह के दरबारी कवि थे। इनका केवल एक संग्रह मिलता है जो बिहारी सतसई नाम से विख्यात है। अधिकांश दोहे शृंगार रस के हैं। शृङ्गार रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति बिहारी के दोहों को प्राप्त हुई उतनी किसी और ग्रन्थ को नहीं।

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। भाषा चलती हुई है फिर भी साहित्यिक है। इनकी कल्पना की उड़ान बड़ी ऊँची है। कही-कही तो अस्वाभाविक-सी हो गई है। छोटे-से दोहे में बहुत-से भाव भर देने के लिए ये प्रसिद्ध हैं।

इन्होंने नीति के भी दोहे कहे हैं जिनमें से कुछ यहाँ संकलित हैं। नीति के दोहों में इन्होंने मनुष्य की दुर्बलताओं तथा वैयक्तिक दोषों को ध्यान में रखा है। इनके भी नीति के दोहे जनप्रिय हुए हैं।

कैसे छोटे नरनि ते, सरत बड़नि के काम ।
 मढ्यो दमामा जात क्यों, लं चूहे के चाम ॥ १ ॥
 अति अगाध अति ओथरी, नदी कूप सर बाय ।
 सो ताको सागर जहा, जाकी प्यास बुझाय ॥ २ ॥
 मोल न नीति गलीति ह्व, जो धरिए धन जोरि ।
 खाये खरच जौ बचे. तौ जोरिए करोरि ॥ ३ ॥
 घर घर डोलत दीन ह्व, जन जन जांचत जाइ ।
 दिग्रे लोभ चसमा चखनि लघु पुनि बड़ो लखाइ ॥ ४ ॥
 बसं बराई जासु तन, ताही को सनमान ।
 भलो भलो कहि छोड़िए. खोटे ग्रह जप दान ॥ ५ ॥
 कहे रहें श्रुति सुमृति सो, यहं सयाने लोग ।
 तीन दबावत निसक ही, राजा पातक रोग ॥ ६ ॥
 गुनी गुनी सब कोउ कहत. निगुनी गुनी न होत ।
 सुन्यो कहं तरु अकं तं. अकं समान उबोत ॥ ७ ॥
 सोहत संग समान सों, यहं कहे सब लोग ।
 पान पीक ओठनि बनं, नैननि काजिर जोग ॥ ८ ॥
 बुरो बुराई जौ तज्जे. तो मन खरो सकात ।
 ज्यों निकलंक मयंक लखि, बनं लोग उत्पात ॥ ९ ॥
 नर की अरु नल नीर कौ, एकं गति करि जोइ ।
 जेतो नीचे ह्वं चलं. तेतो ऊंचो होइ ॥ १० ॥
 बढ़त बढ़त सम्पति सलिल, मनसरोज बढ़ि जाइ ।
 घटत घटत सु न पुनि घटे, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥ ११ ॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीत बहार ।
 अब अलि रही गुलाब में, अपत कँटीली डार ॥ १२ ॥
 इहीं आस अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के मूल ।
 ह्वै हँ फेरि बसन्त ऋतु, इन डारिन वे फूल ॥ १३ ॥
 दिन दस आवर पाइ कै, करि लै आप बखान ।
 जौ लगि काग सराघ पछ, तौ लगि तो सनमान ॥ १४ ॥
 मरतु प्यास पिजरा परचो, सुआ समै के फेर ।
 आवर दै दै बोलियत, बायस बलि की बेर ॥ १५ ॥
 छूटचो इहि जाल परि, मति कुरंग अकुलाय ।
 ज्यों-ज्यों सुरभि भज्यो चहँ, त्यों-त्यों उरभत जाय ॥ १६ ॥
 वे न इहाँ नागर बड़े, जिन आवर तो आब ।
 फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब ॥ १७ ॥
 कर लै सूँघि सराहि कै, सबै रहे गहि मौन ।
 गन्धी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥ १८ ॥
 करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि ।
 चुप रहि रे गन्धी सुघर, अतर दिखावत दाहि ॥ १९ ॥
 कनक कनक ते सौ गुन्ही, मादकता अधिकाइ ।
 उहि खाये बीराइ जग, इहि पायें बीराइ ॥ २० ॥

गिरधरदास

(जन्म स० १७७०)

कविवर गिरधरदास के सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं है । ये भाट थे ।
 इन्होंने नीति की कुण्डलियाँ कही हैं । गाँव के अपढ़ लोग भी इनकी
 कुण्डलियों से परिचित हैं । इनकी रचनाओं में न भाषा की सजावट का

(४१)

उपक्रम है न अलङ्कारों की सजावट का। सीधी-सादी भाषा में एक नीति की बात कही है जो अनुभवजनित है। काव्य की दृष्टि से ये पद्याकर ही कहे जा सकते हैं। साधारण व्यवहार, लोक-व्यवहार का इन्होंने स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। इन्होंने बातें बहुत दूर की और पते की कही है।

(१)

साईं बेटा बाप के, बिगरे भयो अकाज ।
हरिनाकस्यप कंस को, गयो दुहुँन को राज ॥
गयो दुहुँन को राज, बाप बेटा सों बिगरी ।
दुस्मन दावागीर हँसै, महिमण्डल नगरी ॥
कह गिरिधर कविराय, युगन याही चलि आई ।
पिता पुत्र के श्वैर, नफा कहु कौनै पाई ॥

(२)

साईं ऐसे पुत्र से, बाँझ रहे बर नारि ।
बिगरी बेटा बाप सों, जाय रहे ससुरारि ॥
जाय रहे ससुरारि, नारि के नाम बिकाने ।
कुल के धर्म नसाये और परिवार नसाने ॥
कह गिरिधर कविराय मातु भूखै बहि ठाई ।
असि पुत्रनि नहिं होय, बाँझ रहतिउं बर साईं ॥

(३)

दौलत पाय न कीजिए, सपनेहु में अभिमान ।
चंचल जल दिन चारि को, ठाउँ न रहत निदान ॥
ठाउँ न रहत निदान, जियत जग में यश लीजै ।
मीठे बचन सुनाय, बिनय सब ही की कीजै ॥
कह गिरिधर कविराय अरे यह सब घट तौलत ।
पाहुन निशिदिन चारि, रहत सब ही के दौलत ॥

(४२)

(४)

गुन के गाहक सहस नर, बिन् गुन लहें न कोय ।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय ॥
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सब सुहावन ।
दोऊ को इक रंग, काग सब भय अपावन ॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के ।
बिनु गुन लहें न कोय, सहस नर गाहक गुन के ॥

(५)

साईं सब संसार में, मतलब का व्यवहार ।
जब लग पैसा गांठ में, तब लग ताको यार ॥
तब लग ताको यार, यार संग ही संग डोलें ।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलें ॥
कह गिरिधर कविराय, जगत यहि लेखा भाई ।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई साईं ॥

(६)

साईं घोड़े आछतहिं, गदहन पायो राज ।
कौआ लीजें हाथ में, दूरि कीजिए बाज ॥
दूरि कीजिए बाज, राज पुनि ऐसो आयो ।
सिंह कीजिए कैद, स्यार गजराज चढ़ायो ॥
कह गिरिधर कविराय, जहाँ यह बूझि बघाई ।
तहाँ न कीजें भोर, सांझ उठि चलिए साईं ॥

(७)

साईं अवसर के परे, को न सहें दुख दुन्द ।
जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द ॥
वै राजा हरिचन्द, करें मरघट रखवारी ।
घरे तपस्वी भेस, फिरे अर्जुन बलधारी ॥

कह गिरिधर कविराय, तपें वह भीम रसोई ।
को न करे घाट काम, परे अवसर के साई ॥

दीनदयाल गिरि

(स० १८५९—१९१५)

बाबा दीनदयाल गिरि गोसाई-परिवार में काशी में पैदा हुए थे। ये हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। ये बड़े सहृदय और भावुक कवि थे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं जिनमें अन्तरागबाग तथा अन्योक्तिकल्पद्रुम प्रमुख हैं। इनकी अन्योक्तियों के भाव अधिकांश संस्कृत से लिये हुए हैं। इनकी सरलता तथा मनोहरता ऐसी है कि ये मौलिक-सी हो गई हैं। इनकी भाषा बड़ी परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित है। इनकी अन्योक्तियाँ बड़ी भावुकता से कही गई हैं। इन्होंने श्रौतिक विषयों पर अधिकांश अन्योक्तियाँ लिखी हैं, अध्यात्म-पक्ष में भी कुछ लिखी हैं। कहीं-कहीं इन्होंने पदों में श्लोक का व्यवहार किया है। वहाँ इनकी कला का सौन्दर्य है। कहीं कहीं केवल भावों का सौन्दर्य है। ये दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट कवि हैं।

दानी अमरित के सदा देव करें गुनगान ।
सुनौ चंद बंदे तुम मोद निधान जहान ॥
मोद निधान जहान संभु सिर ऊपर धारें ।
देखि सिधु हरखाय निकाय चकोर निहारें ॥
बरनै दीनदयाल सब तुमको सुखखानी ।
एक चोर बरजोर घोर निंदे दुखदानी ॥

दीजे जीवन जलबँ जू दीन द्विजन को देखि ।
इनको आसा राखरी लागी अहँ बिसेखि ॥
लागी अहँ बिसेखि देहु कुल कीरति छहँ ।
या चपला हे चला लला धौं कित को जेहँ ॥

बरनै दीनदयाल आप जग में जस लीजै ।
परमधरम उपकार द्विजन को जीवन दीजै ॥

करिए सीतल हृदयबन सुमन गयो मुरझाय ।
सुनो बिनय घनस्याम है सोभा सघन सुहाय ॥
सोभा सघन सुहाय कृपा की धारा दीजै ।
नीलकठ प्रिय पालि सरस जग में जस लीजै ॥
बरनै दीनदयाल तृषा द्विजगन की हरिए ।
घपला सहित लखाय मधुर मुरकानन करिए ॥

रतनाकर महि माहँ तुम अति अथाह गंभीर ।
हैं प्रवाह दुस्तर भरे ग्राह प्रबल तो नीर ॥
ग्राह प्रबल तो नीर तीर पैठत बुध हारे ।
धीर न रहै सरीर तरंग निहारि तिहारे ॥
बरनै दीनदयाल जौन मरजीवा जाकर ।
लै मुकुतन को कढ़े सोइ धनि हे रतनाकर ॥

जेतो फल तें नमत हो एहो धीर रसाल ।
तेतो ऊँचे होत हो सोभा होति बिसाल ॥
सोभा होति बिसाल बात तव है सुखदायक ।
रस तें करो निहाल तुम्हें सेवै द्विजनायक ॥
बरनै दीनदयाल हिये हरि सों हित केतो ।
धरे रहै छबि स्याम नमित रस देखै जेतो ॥

नाहीं भूलि गुलाब तू गुनि मधुकर गुंजार ।
यह बहार दिन चार की बहुरि कटीली डार ॥
बहुरि कटीली डार होहिगी ग्रीखम आये ।
लुबं चलैगी संग अंग सब जैहें ताये ॥

बरनै दीनदयाल फूल जौलों तो पाहीं ।
रहे घेरि चहुँ फेरि फेरि अलि ऐहे नाहीं ॥

कोकिल लोचन ललित करि करिय न कोप बिखाद ।
भयो कि मूढ़ द्रयो न जो सुनि कं पंचम नाद ॥
सुनि कं पंचम नाद द्रवै सुनि चतुर विवेकी ।
ते न द्रवै जिहि लगै सुखद बानी कौवे की ॥
बरनै दीनदयाल लगे प्रिय सांपनि को बिल ।
कहा करे ते रंगभौन सुनिए हे कोकिल ॥

अंचयो कुभज नीरनिधि सो सिध बड़े कहात ।
तुम जगजीवन निधिनिकर सीकर सम चटि जात ॥
सीकर सम चटि जात लोभ तव प्यास न जाई ।
तुम अकास ऋषि रेनु कहा तिन केरि बड़ाई ॥
बरनै दीनदयाल लोक तिहुँ ग्रसि कं पचयो ।
तउ भूख नहि प्यास गई सत सागर अंचयो ॥

मैथिलीशरण गुप्त

(जन्म सं० १९४३)

गुप्त जी का जन्म वैश्य-कुल में भाँसी जिले में हुआ । आपके पिताजी कवि थे । इनका आपके ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा । आपने बहुत से ग्रन्थ अनेक विषयों पर हिन्दी में लिखे हैं । पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से आपको बहुत प्रोत्साहन मिला 'सरस्वती' में आपकी रचनाएँ बराबर निकलती रहीं । आपकी लिखी 'भारत-भारती' बहुत ही लोकप्रिय पुस्तक हुई । नवयुवकों में उससे बहुत जागृति हुई । उसमें भारत का अतीत तथा वर्तमान चित्र अजोषपूर्ण भाषा में है ।

आप प्रबन्ध-काव्य लिखने में बड़े पटु हैं। आपकी रचनाओं में घटना-वर्णन तथा भावाभिव्यञ्जन दोनों विशेष रूप से पाये जाते हैं। आप सभी रसों का परिपाक सुन्दरता में कर सकते हैं। 'जयद्रथ-वध' आपका सुन्दर पठनीय काव्य है। आपकी भाषा शुद्ध, सरल और व्याकरण-सम्मत होती है। आपकी एक विशेषता और है। समय के अनुसार आप अपनी शैली में परिवर्तन करते गये हैं। 'साकेत' और 'यज्ञोधरा' आपके बड़े सुन्दर प्रबन्ध-काव्य हैं। आपने लगभग तीस पुस्तकें लिखी हैं।

नीचे का अवतरण उपदेशात्मक नीति-काव्य है। मनुष्य का ध्यान उसके कर्तव्य की ओर दिलाया गया है। अपनी प्राचीन प्रथा के अनुसार भारतीयों का गुण परम्परा है; उसी को कवि ने बताया है।

वही मनुष्य

(१)

विचार लो कि मर्त्य हो न मृत्यु से डरो कभी;
मरो, परन्तु यों मरो कि पाद जो करे सभी।
हुई न यों सु-मृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिये;
मरा नहीं वही कि जो जिया न आपके लिए।
यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप आप ही चरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

(२)

उसी उदार की कथा सरस्वती बखानती;
उसी उदार से धरा कृतार्थ-भाव मानती।
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति क्जती;
तथा उसी उदार को समस्त सृष्टि पूजती।
अक्षय्य आत्मभाव जो असीम विश्व में भरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

(४७)

(३)

क्षुधार्थं रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी,
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थिजाल भी।
उशीनर क्षितीश ने स्वमांस दान भी किया,
सहर्ष वीर कर्ण ने शरीर-चर्म भी दिया।
अनित्य देह के लिए अनादि जीव क्या डरे ?
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

(४)

सहानुभूति चाहिए, महाविभूति है यही;
वशीकृता सदैव है बनी हुई स्वयं मही।
विरुद्धवाद बुद्ध का दया-प्रवाह में बहा,
विनीत लोकवश क्या न सामने भुका रहा ?
अहा ! वही उदार है परोपकार जो करे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

(५)

रहो न भूल के कभी मदान्ध तुच्छ वित्त में,
सनाथ जान आपको करो न गर्व चित्त में।
अनाथ कौन है यहां त्रिलोकनाथ साथ है;
दयालु दीनबन्धु के बड़े विशाल हाथ हैं।
अतीत भाग्यहीन है अधीर भाग्य जो करे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

(६)

अवन्त अन्तरिक्ष में अनन्त देव हैं खड़े,
समक्ष ही स्वबलहु जो बढ़ा रहे बड़े-बड़े।
परस्परायलम्ब से उठो तथा बढ़ो सभी,
अभी अमर्त्य-अङ्गु में अपङ्गु हो चढ़ो सभी।

(४८)

यही न यों कि एक से न काम और का सरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

(७)

“मनुष्य मात्र बन्धु है” यही बड़ा विवेक है,
पुराणपुरुष स्वभू पिता प्रसिद्ध एक है ।
फलानुसार कर्म के अवश्य बाह्य भेद है,
परन्तु अन्तरैक्य में प्रमाणभूत वेद हैं ।
अनर्थ है कि बन्धु ही न बन्धु की व्यथा हरे;
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

(८)

जो अभीष्ट मार्ग में सहर्ष खेलते हुए,
विपत्ति विघ्न जो पड़े उन्हें ढकेलते हुए ।
घटे न हेलमेस हों, बढ़े न भिन्नता कभी,
अतर्क एक पन्थ के सतर्क पन्थ हों सभी ।
छात्री समर्थभाव है कि तारता हुआ तरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

तृतीय खण्ड

वर्णनात्मक काव्य

हिन्दी में पहले प्रबन्ध-काव्यों की रचना आरम्भ हुई। इसके पश्चात् रीति-ग्रन्थ लिखे जाने लगे जिसमें रस तथा अलंकार के उदाहरण ही दिये जाते थे। नगर की शोभा अथवा प्राकृतिक दृश्य पहले काव्य-प्रबन्ध के अन्तर्गत आ जाते थे; जैसे रामचरितमानस में शरद् या वर्षा का वर्णन, या पद्मावत में सिंहल द्वीप का वर्णन।

ईसा की उन्नीसवीं शती के कुछ कवियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने मुक्तक रूप में स्थानों का वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया। इस खण्ड में ऐसी ही रचनाओं का संकलन है। वर्णन दो प्रकार के होते हैं। एक तो दृश्यों का वर्णन सुन्दर मनोहर शब्दों में कर दिया गया; पाठक के सामने एक चित्र खड़ा हो गया। दूसरा वर्णन इस ढङ्ग से होता है कि उन दृश्यों के साथ कवि अपने को भी मिला लेता है। कवि दृश्यों को सजीव समझने लगता है; उनके साथ उसकी सहानुभूति हो जाती है। पुराने कवियों ने पहले ढङ्ग की रचनाएं अधिक की हैं। नवीन कवियों ने दूसरे ढङ्ग को अधिक अपनाया है। सेनापति, देव, पद्माकर, भारतेन्दु, द्विवेदी, पाठक इत्यादि पहले ढङ्ग के कवि हैं; प्रसाद, पन्त, गोपालशरणसिंह अदि दूसरे ढङ्ग के।

यह न समझना चाहिए कि इनमें कोई शैली अच्छी या कोई शैली खराब है। दोनों शैलियों में गुण हैं। अपने-अपने ढङ्ग पर दोनों शैलियाँ सुन्दर हैं। कुल लोग कहा करते हैं कि हिन्दी में प्रकृति-सम्बन्धी काव्य नहीं हैं। जिस देश में कंकड़ से लेकर विशाल हिमालय तक, पेड़-पौधों की, नदी-नद की पूजा होती है, उसमें प्रकृति की उपेक्षा हो ही नहीं सकती। दिये हुए अवतरणों से पता चलेगा कि प्रकृति के सुन्दर रूप को यहाँ के कवियों ने निरखा-परखा है और अच्छी से अच्छी रचना की है।

जायसी

(सं० १६४९-१६९८)

मलिक मुहम्मद जायसी जायस (अवध प्रान्त) के रहनेवाले प्रसिद्ध सूफी फ़कीर थे। इनके जन्म तथा मरण की तिथियाँ निश्चित रूप से नहीं मालूम हैं। इतना अवश्य ज्ञात है कि ये शेरशाह के समय में थे; क्योंकि इन्होंने अपने सबसे बड़े ग्रन्थ पद्मावत में, प्रथा के अनुसार, अपने समय के शासक शेरशाह की प्रशंसा की है। इनकी लिखी तीन पुस्तक मिलती हैं—पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी कलाम। उसमें पहली पुस्तक सबसे महत्त्व की है। यह एक प्रबन्ध-काव्य है। इसमें सिंहलद्वीप के राजा रतनसेन का चित्तोर की रानी पद्मिनी से प्रेम का वर्णन है। यों बाहरी रूप से तो मानवीय प्रेम का वर्णन है किन्तु असल में आध्यात्मिक प्रेम, आत्मा का परमात्मा के प्रति प्रेम का निरूपण है। एक ऐतिहासिक कथा को आधार मानकर कवि ने उसमें अपनी कल्पना को मिलाकर एक कथा लिखी है। उस युग में इस प्रकार की कथा लिखने की प्रथा थी। ऐसे कवियों को प्रेममार्गी सूफी कवि कहते हैं। जो सांसारिक प्रेम का आधार लेकर ईश्वरीय प्रेम का वर्णन करते हैं।

यह कथा दोहों और चौपाइयों में लिखी है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है। जायसी ने अवधी भाषा को साहित्यिक रूप दिया जिससे वह इस योग्य हो सकी कि आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने इसी में रामचरितमानस लिखा। पद्मावत की कथा में कथा के सब गुण हैं; प्रेम श्रद्धा और भक्ति के साथ-साथ लोकहित की भावनाएँ, वीर- रौद्र इत्यादि भी मौजूद हैं। कविता बहुत ही मधुर, सरस और मर्मस्पर्शिणी है। वर्णनों में कवि ने अच्छा कौशल दिखाया है।

यहाँ सिंहल द्वीप का वर्णन दिया गया है। इसमें कवि ने नगर की सभी वस्तुओं का वर्णन किया है। पुरानी परम्परा थी कि जब नगर का वर्णन किया जाय तब इन-इन वस्तुओं का वर्णन होना आवश्यक है। कवि ने उसी परम्परा का अनुकरण किया है। फल, पक्षी, नालात्र, वृक्ष आदि का वर्णन कवि को करना पड़ता था चाहे वे वृक्ष, फल, पक्षी वहाँ हों या न हों। वर्णन के पढ़ने से पता चलता है कि कवि ने बड़े ब्यारे से नगर की प्रत्येक वस्तु का वर्णन किया है।

सिंघलदीप कथा अब गावों : औ सो पदमिनि बरनि सुनावों ॥
 निरमल दरपन भौंति बिसेखा : जो जोह रूप सो तैसइ देखा ॥
 धनि सो दीप जहँ दीपक बारी : औ पदमिनि जो दई सँवारी ॥
 सात दीप बरनै सब लोगू : एकौ दीप न ओहि सर जोगू ॥
 दियादीप नहि तस उजियारा : सरनदीप सरि होइ न पारा ॥
 जम्बूदीप कहौ तस नाही : लंकदीप सरि पूज न छाहीं ॥
 दीप गभस्थल आरन परा : दीप महुस्थल मानुस-हरा ॥

सब संसार परथमें आये सातों दीप ।

एक दीप नाहं उत्तिम सिंघलदीप समीप ॥

मन्धबसेन सुगंध नरेसू । सो राखा, वह ताकर देसू ॥
 लङ्का सुना जो रावन राजू । तेहु चाहि बड़ ताकर साजू ॥
 छप्पन कोटि कटक दल साजा । सबै छत्रपति औ गढ़-राजा ॥
 सोरह सहस्र घोड़ घोड़सारा । स्यामकरन अरु बाँक तुखारा ॥
 सात सहस्र हस्ती सिंघली । जनु कैलास एरावत बली ॥
 अस्वपतिक सिरमौर कहावे । गजपतीक आँकुस-गज नावे ॥
 नरपतीक कहँ और नरिद्रु ? भूपतीक जग दूसर इद्रु ॥

ऐस चक्कवै राजा चहूँ खंड भय होइ ।

सबै आइ सिर नार्वाह सरबरि करै न कोइ ॥

जबाहि दीप नियरावा जाई । जनु कैलास नियर भा आई ॥

घन अमराउ छाय चहुँ पासा । उठा भूमि हुत लागि अकासा ॥

हरिवर सबै मलयगिरि लाई । भइ जग छाँह रैन होइ आई ॥

मलयसमीर सोहावन छाहीं । जेठ आइ लागे तेहि माहीं ॥

ओही छाँह रैन होइ आवै । हरियर सबै अकास देखावै ॥

पथिक जो पहुँचै सहि कै घाम् । दुख बिसरै, सुखहोइ बिसराम् ॥

जेइ वह पाई छाहँ अनूपा । फिरि नहि आइ सहै यह धूपा ॥

अस अमराउ सघन घन बरनि न पारौ अंत ।

फूले फरै छवी श्रुतु जाम्नु सवा बसंत ॥

फरै आब अति सघन सोहाये । औ जस फरे अधिक सिर नये ॥

कटहर डार पीड सन पम्के । बड़हर, सो अनूप अति ताके ॥

खिरनी पाकि खाँड़ असि मीठी । जामुन पाकि भँवर असि डीठी ॥

नरियर फरे, फरी फरहरी । फुरै जामु इंद्रासन पुरी ॥

पुनि महुवा चुअ अधिक मिठासु । मधु जस मीठ, पुहुप जस बासु ॥

और खजहूआ अनबन नाऊँ । देखा सब राउन अमराऊँ ॥

छाय सबै जस अमृत सम्पदा । रहै लोभाइ सोइ जो चाखा ॥

छवैय सुपारी जम्पकर सब फर फरे अपुर ।

आस पास घन इमिली औ घन तार खजूर ॥

कसीह पंखि बोलैह बहुभाखा । करैह हुलास देखि कै साखा ॥

भोर होत बोलैह चुहचुही । बोलैह पांडुक “एकै तुही” ॥

सारी सुआ जो रहचह करहीं । कुरैह परेवा औ करबरहीं ॥

“पीव पीव” कर छाय पपीहा । “तुही तुही” कर मड़ूरी जीहा ॥

“कुह कुह” करि कोइलि राखा । औ भिगराज बोल बहु भाखा ॥

‘बही बही’ करि महारि पुकारा । हारिल बिनवै आपन हारा ॥

कुहुकहि मोर सोहावन लागा । होइ कुराहर बोलैह कागा ॥

जावत पंखी जगत के भरि बैठे अमराउँ ।

आपनि आपनि भाषा लेहि दई कर नाउँ ॥

पैंग पैंग पर कुवां बावरी । साजी बैठक और पाँवरी ॥
और कुंड बहु ठावाहि ठाऊँ । सब तीरथ औ तिन्हके नाऊँ ॥
मठ मंडप चहुँ पास सँवारे । तपा जपा सब आसन मारे ॥
कोइ सु ऋषीसुर, कोइ संन्यासी । कोई रामजती बिसवासी ॥
कोई ब्रह्मचार पथ लागे । कोइ सो दिगंबर बिचरहि नाँगे ॥
कोई सु महेसुर जङ्गम जती । कोइ एक परखै देवी सती ॥
कोइ मुरसती कोई जोगी । कोइ निरास पथ बंठ बियोगी ॥

सेवरा, खेवरा, बानपर, सिध, साधक, अवधूत ।

आसन मारे बैठ सब जारि आतमा भूत ॥

मानसरोवक बरनों काहा । भरा समुद अस अति अवगाहा ॥
पानि मोति अस निरमल तासु । अमृत आनि कपूर सुबासु ॥
लंक दीप कं सिला अनाई । बाँधा सरवर घाट बनाई ॥
खँड खँड सीढ़ी भई गरेरी । उतरहि चढ़हि लोग चहुँ फिरी ॥
फूला कबँल रहा होइ राता । सहस सहस पखुरिन कर छाता ॥
उलथहि सीप, मोति उतिराहीं । चुगहि हंस औ केलि कराहीं ॥
खनि पतार पानी तहँ काढ़ा । छोरसमुद निकसा हुत बाढ़ा ॥

ऊपर पाल चहुँ दिसि अमृत फल सब रुख ।

देखि रूप सरवर कं मै पियास औ भूख ॥

ताल तलाव बरनि नहि जाहीं । सूभै वार पार किछु नाहीं ॥
फूले कुमुद सेद उजियारे । मानहुँ उगे गगन महँ तारे ॥
उतरहि मेघ चढ़हि लेइ पानी । चमकहि मच्छ बीजु कं पानी ॥
पौरहि पंखि सु संगहि संग । सेत पीत राते बहु रंगा ॥
चकई चकवा केलि कराहीं । निसिक बिछोह, दिनहि मिलि जाहीं ॥
कुररहि सारस करहि हुलासा । जीवन मरन सो एकहि पासा ॥
बोल्हि सोन ठेक बगलेबी । रही अबोल मीन जल-भेदी ॥

नग अमोल तेहि तालाह दिनाहि बरहि जस दीप ।

जो मरजिया होइ तहँ सो पावै वह सीप ॥

आस पास बहु अमृत बारी । फरीं अपूर, होइ रखवारी ॥
नारंग नीबू सुरङ्ग जेभीरा । औ बदाम बहु भेद अँजीरा ॥
गलगल तुरंज सदाफर फरे । नारंग अति राते रस भरे ॥
किसमिस सेव फरे नौ पाता । दारिउँ दाख देखि मन राता ॥
लागि सुहाई हरफारचोरी । उनं रही केरा कै घौरी ॥
फरे तूत कमरख औ न्योजी । रायकरौदा बेर चिरौजी ॥
संगतरा व छुहारा दीठे । और खजहजा खाटे मीठे ॥

पानि देहि खँड़वानी कुर्वाहि खाँड़ बहु मेलि ।

लागी घरी रहट कं सीर्चाहि अमृतबेलि ॥

पुनि फुलवारि लागि चहुँ पासा । बिरछि बेधि चन्दन भइ बासा ॥
बहुत फूल फूलीं घनबेली । केवड़ा चंपा कुंद चमेली ॥
सुरंग गुलाल कदम औ कूजा । सुगंध बकौरी गंधर्व पूजा ॥
जाही जूही बप्पुचन लावा । पुहुप सुदरसन लाग सुहावा ॥
नागेशर सबबरग नेवारीं । औ सिंगारहार फुलवारीं ॥
सोनजरद फूलीं सेवती । रूपमंजरी और मालती ॥
मौलसिरी बेइलि और करना । सबै फूल फूले बहु बरना ॥

तेहि सिर फूल चढ़ाहि वै जेहि माथे मनि भाग ।

आछाहि सब सुगन्ध बहु जनु बसंत औ फाम ॥

भूषण

[सं० १६७०-१७७२]

इनका असली नाम नहीं ज्ञात है । इनका जन्म तिकवाँपुर (जिला कानपुर) में हुआ था । ये कवि प्रतिसम के भाई थे चित्रकूट के सोलङ्की राजा

रुद्र ने इन्हें कवि भूषण की उपाधि दी थी। तभी से ये इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये। इनका अधिक समय महाराज शिवाजी के दरबार में बीता। ये उस युग में पैदा हुए थे। जब हिन्दी में रीति ग्रन्थ अर्थात् रस तथा अलङ्कार की पुस्तकें कविता में लिखन की प्रथा थी और रचनाएँ अधिकांश शृङ्गार रस की होती थीं। इन्होंने छत्रपाति शिवाजी का वर्णन किया और चिन्ता वीर रस की थी, किन्तु बहुत बड़ा पुराना रस और अलङ्कारवाला था। इनके दो ग्रन्थ विख्यात हैं—शिवराजभूषण तथा छत्रसाल-दशक। शिवराजभूषण में अलङ्कारों के लक्षण हैं, साथ ही उदाहरण में शिवाजी की प्रशंसा है।

निम्न अवतरण उक्त पुस्तक के आरम्भ में से है। इसमें शिवाजी की राजधानी रायगढ़ का वर्णन है। संक्षेप में कवि ने रायगढ़ के वैभव और उसकी सुन्दरता का वर्णन किया है। यह वर्णन परम्परा के अनुसार ही है। जायसी की तुलना में यह वर्णन ब्योरे और विस्तार में कम है। किन्तु यह भी ध्यान रखना है कि जायसी का प्रबन्ध काव्य है; शिवराजभूषण एक छोटी-सी अलङ्कार की पुस्तक। भूषण की भाषा ब्रजभाषा है। इन्होंने शब्दों के साथ बहुत स्वतन्त्रता का बर्ताव किया है।

हरिगीतिका

मनिपय महल सिवराज के इसि रायगढ़ में राजहीं।
 लखि जच्छ किन्नर सुर अपुर गन्धवं हौंसनि साजहीं॥
 उत्तङ्ग मरकत मन्दिरन भधि बहु मृदंग जु बाजहीं।
 घन-समै मानहु धुमरि करि घन घनपटल गलगाजहीं॥ १॥
 मुकुतान की झालरिन मिलि मनि-माल छज्जा छाजहीं।
 सन्ध्या समै मानहु नखत-गन लाल अम्बर राजहीं॥
 जहँ तहाँ ऊरघ उठे हीरा-किरन घन-समुदाय है।
 मानो गगन तम्बू तन्यो ताके सपेत तनाय है॥ २॥
 'भूषण' भनत जहँ परसि कै मनि पुहुपरागन की प्रभा।
 प्रभु पीतपट की प्रगट पावत सिन्धु, मेघन की सभा॥

मुख नागरिन के राजहीं कहूँ फटक महलन संग में ।
 बिकसन्त कोमल-कमल मानहुँ अमल-गंग-तरंग हैं ॥ ३ ॥
 आनन्द सों सुन्दरिन के कहूँ बदन-इन्दु उदोत हैं ।
 नभसरित के प्रफुलित कुण्ड मुकुजित कमल-कुल होत हैं ॥
 कहूँ बावरी सर कप राजत बद्ध मनि-सोपान हैं ।
 जहँ हंस सारस चक्रवाक विहार करत सवान हैं ॥ ४ ॥
 कितहूँ बिसाल प्रबाल-जालन जटित वंगन-भूमि है ।
 जहँ ललित बागनि द्रुमलतनि मिलि हैं अकलमिलि भूमि है ॥
 चम्पा चमेली चारु चन्दन चारिहूँ दिसि देखिए ।
 लवली लवण यलानि केरे लाखहीं लगि लेखिए ॥ ५ ॥
 कहूँ केतकी कबली करौंदा कुन्द अरु करबीर हैं ।
 कहूँ दाख दाड़िम सेब कटहल तूत अरु जंजीर हैं ॥
 कितहूँ कदम्ब-कदम्ब कहूँ हिन्ताल ताल तमाल हैं ।
 पीयूष ते मीठे फले कितहूँ रसाल-रसाल हैं ॥ ६ ॥
 पुष्पाग कहूँ कहूँ नागकेसरि कितहूँ बकुल असोक हैं ।
 कहूँ ललित अगर गुलाब पाटल-पटल वेला-थोक हैं ॥
 कितहूँ नेवारी माधवी सिंगारहार कहूँ लसैं ।
 जहँ भाँति भाँतिन रंग-रंग बिहंग आनन्द सों रसैं ॥ ७ ॥

छप्पय

लसत बिहङ्गम बहु लवणित बहु भाँति बाग महें ।
 कोकिल कीर कपोत केलि कल-कल करन्त तहें ॥
 मंजुल महिर मयूर चटुल चातक चकोर-गन ।
 पियत मधुर-मकरन्द करत भँकार भूँय भूँय घन ॥
 भूषण सुवास फल फूल जुत छहूँ रितु बसत बसन्त जहें ।
 इमि राजदुग्ग राजत रुचिर, मुखवायक सिवराज कहूँ ॥ ८ ॥

नरेन्द्र शर्मा

आप एक नवयुवक प्रतिभाशाली कवि हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं। इन दिनों आप फ़िल्म कम्पनी में गीत तथा संवाद लिखने का कार्य कर रहे हैं। आप मुक्त-काव्य सुन्दर और सजीव लिखते हैं। भाषा मधुर होती है। इस सम्बन्ध में आपने कवि पन्त का अनुकरण किया है। आपकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

आपकी कविता 'प्रयाग' यहाँ दी जा रही है। पुराने कवियों के देशों या नगरों के वर्णन में तथा इस कवि के नगर-वर्णन में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। प्राचीन कवियों ने केवल बाहरी वस्तुओं का वर्णन किया है, कवित्वपूर्ण भाषा में एक प्रकार से सूची प्रस्तुत की है; इस कवि ने प्रयाग के वर्णन में प्रयाग का प्राचीन गौरव तो दिखाया ही है, नगर से कवि ने अपनी आत्मीयता का भी बोध कराया है। सारी कविता में एक विषाद की रेखा है।

प्रयाग

मैं बन्दी वन्दी मधुप, गीत यह गुञ्जित मम स्नेहानुराग,
संगम की गोदी में पोषित शोभित तू शतबलयुत प्रयाग !
विधि की बाँहें गंगा-यमुना तेरे सुषभ पर कण्ठ-हार
लहरातीं आलीं गिरि-पथ से लहरों में भर शोभा अपार !

देखा करता हूँ गंगा में उगता गुलाब-सा अरुण प्रातः
यमुना की नीली लहरों में नहला तन, उठती नित्य रात !
गंगा-यमुना की लहरों में, कण-कण में मणि नयनाभिराम
बिखरा देती है साँझ हुए नारंगी रंग की शान्त शाम !

तेरे प्रसाद के लिए तीर्थ ! आते थे दानी हर्ष जहाँ,
पल्लव के रुचिर किरिट पहन आता अब भी ऋतुराज वहाँ ;

कर दैन्य-दुःख-हेमन्त अन्त, वैभव से भर सब शुष्क वृन्त
हर साल हर्ष के ही समान सुख-हर्ष-पुष्प लाता वसन्त !

स्वर्णिम मयूर-से नृत्य किया करते उपवन में गोल्डमोहर,
कुहका करती पिक छिप-छिपकर तरुओं में रत प्रत्येक प्रहर !
भर जाती मीठे सौरभ से कड़वे नीलों की डाल डाल
चलदल पर लब जाते असंख्य नवदल-प्रवाल के जाल लाल !

‘मधु आया’, कहते हैं प्रसून, पल्लव ‘हाँ’ कह-कह हिल जाते,
आलिंगन भर, मधु-गन्ध-भरा बहता समीर जब दिन आते !
शुद्धि, स्वच्छ और चौड़ी सड़कों के हरे-भरे तेरे घर में
सबको सुख से भर देता है ऋतुपति पल भर के अंतर में !

मधु के दिन पर कितने दिन के ! आतप में तप जल जाता सब !
तू सिखलाता कैसे केवल पल भर का है जग का वैभव !
इस स्वर्ण-परीक्षा से दीक्षा ले ज्ञानी बन मन-नीरजात
शीतल हो जाता आती है जब सावन की सुख-सरस रात !

जब रहा-सहा दुख धूल जाता, मन शुभ्र शरद-सा खिल जाता—
यों दीप-मालिका में आलोकित कर पथ शुभ्र शरद आता !
ऋतुओं का पहिया इसी तरह घूमा करता प्रतिवष यहाँ,
तेरे प्रसाद के लिए, तीर्थ ! आते थे बानी हर्ष जहाँ !

खुसरू का बाग सिखाता है, है धूप-छाँह सी यह माया
वृक्षों के नीचे लिख जाती है, यों ही नित चञ्चल छाया !
वह दुर्ग ! —जहाँ उस शान्ति-स्तम्भ में मूर्तिमान अब तक अशोक,
था गर्व कभी, पर आज जगाता है उर उर में क्षोभ-शोक !

तू सीख त्याग, तू सीख प्रेम, यम-नियम सीख तू अज्ञानी—
क्या पत्थर पर अब तक अंकित यह दया-द्रवित-कोमल बाणी !

जिसमें बोले होंगे गद्गद् वे शान्ति-स्नेह के अभिलाषी
दृग-भर भर शोकाकुल अशोक, सन्नाट, भिक्षु औ' संन्यासी !

यह जीवन चञ्चल छाया है, बदला करता प्रतिपल करवट,
मेरे प्रयाग की छाया में पर अब तक जीवित अक्षयवट !
क्या इसके अजर पत्र पर चढ़ जीवन जीतेगा महाप्रलय ?
कह, जीवन में क्षमता है यदि तो तम से हो प्रकाश निर्भय !

मैं भी फिर नित निर्भय खोजूँ शाश्वत प्रकाश अक्षय जीवन,
निर्भय गाऊँ, मैं शान्त करूँ इस मृत्यु-भीत जग का क्रन्दन !
है नये जन्म का नाम मृत्यु, है नई शक्ति का नाम ह्वास,
है आदि अन्त का, अन्त आदि का यों सब दिन क्रम-बद्ध ग्रास !

प्यारे प्रयाग ! तेरे उर में ही था मम अन्तर-स्वर निकला,
था कंठ खुला, काँटा निकला, स्वर शुद्ध हुआ, कवि-हृदय मिला,
कवि हृदय मिला, मन-मुकुल खिला, अर्पित है जो श्रीचरणों में,
पर हो न सकेगा अभिनन्दन मेरे इन कृत्रिम वर्णों में !

ये कृत्रिम, तू सत्-प्रकृति-रूप, हे पूर्ण पुरातन तीर्थराज !
क्षमता दे जिससे कर पाऊँ, तेरा अनन्त गुणगान आज !
दे शुभाशीष, हे पुण्यधाम ! वाणी कल्याणी हो प्रकाम,
स्वीकृत हो अब श्रीचरणों में वन्दी का यह अंतिम प्रणाम !

तेरे चरणों में शीश धरे आये होंगे कितने नरेन्द्र,
कितने ही आये चले गये कुछ दिन रह अभिमानी महेन्द्र !
मैं भी नरेन्द्र, पर इन्द्र नहीं, तेरा वन्दी हूँ, तीर्थराज !
क्षमता दे जिससे कर पाऊँ तेरा अनन्त गुण-गान आज !

जयशङ्कर 'प्रसाद'

[सं० १९४६-१९९४]

जयशङ्कर 'प्रसाद' का जन्म काशी के प्रसिद्ध तम्बाकू के व्यापारी सुंघनी साहु के घराने में हुआ था। स्कूल में आपकी शिक्षा कम हुई। घर पर ही आपने संस्कृत, हिन्दी तथा अँगरेजी की शिक्षा प्राप्त की। बाल्यावस्था से ही आपको कविता करने की रुचि थी। आपने ब्रजभाषा में रचनाएँ आरम्भ की, किन्तु आगे खड़ी बोली में करने लगे। आपने भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी में नाटकों का सर्जन आरम्भ किया। आपके नाटक ऊँची श्रेणी के, भारत के अतीत गौरव को जाग्रत करनेवाले हैं। आपने उपन्यास तथा कहानियाँ भी लिखी हैं। बहुत-से गीतों के अतिरिक्त आपने कविता की एक सुन्दर पुस्तक 'आँसू' तथा एक प्रबन्ध-काव्य 'कामायनी' लिखा है जो 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' से पुरस्कृत है। आप हिन्दी-कविता में उस शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं जिसे छायावाद कहते हैं।

यहाँ उद्धृत कविता प्रसादजी के नाटक 'स्कन्दगुप्त' से ली गई है। विजय के समय विजयी लोग आनन्दोल्लास में अपने देश के प्रति यह गीत गाते हैं। भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य का संकेत करते हुए हमारे प्राचीन गौरव तथा संस्कृति का स्मरण कवि ने कराया है। प्राचीन इतिहास का भी दिग्दर्शन हो गया है, हमारे जातीय गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है। कविता में गम्भीरता है और भावों का स्तर बहुत ऊँचा है। भाषा में ओज भी है, प्रवाह भी है, माधुर्य भी है। इस कविता में हमें विशुद्ध प्रांजल हिन्दी का प्रयोग मिलता है।

भारतवर्ष हमारी जन्मभूमि है। यहाँ के सभी रहनेवालों को इससे प्रेम है। फिर कवियों के हृदय से क्यों न इसके प्रति श्रद्धा और प्रेम की वाणी फूट निकले। तीन कवियों द्वारा प्रकटित, भारतवर्ष के सम्बन्ध में, उद्गार यहाँ दिये जाते हैं।

भारतवर्षे

हिमालय के आँगन में उसे, प्रथम किरणों का वे उपहार ।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार ॥
जगे, हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फँला फिर आलोक ।
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक ॥

विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल-कर में सप्रीत ।
सप्तस्वर, सप्तसिन्धु में उठे, छिड़ा तब मधुर सान-संगीत ॥
बचाकर बीज रूप से सृष्टि नाव पर भेळ प्रलय का शीत ।
अरुण केतन लेकर निज हाथ, वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत ॥

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारी जातीयता विकास ।
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास ॥
सिन्धु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह ।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह ॥

धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बन्द ।
हमों ने दिया शान्ति-सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द ॥
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम ।
भिक्षु होकर रहते सम्राट, दया दिखलाते घर-घर घूम ॥

यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि ।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि ॥
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं ।
हमारी जन्मभूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं ॥

जातियों का उत्थान-पतन आँधियाँ, झड़ी, प्रचण्ड समीर ।
खड़े देखा, भेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर ॥
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न ।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विषम ॥

हमारे सञ्चय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव ।
 वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी डेव ॥
 वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान ।
 वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य्य-सन्तान ॥
 जियें तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष ।
 निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥

सोहनलाल द्विवेदी

द्विवेदी जी फतहपुर जिले के बिन्दकी गाँव के रहनेवाले हैं। आपने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय से एम० ए० और एल-एल० बी० पास किया है। आप बहुत दिनों से हिन्दी में कविता लिख रहे हैं। आपकी अनेक कविता-मुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपने कविता में दो मागों का अनुसरण किया है। एक ओर तो आप बालकोपयोगी सरल तथा सुबोध रचनाएँ करते हैं, दूसरी ओर राष्ट्रीय भावनाओं से भरी ओजपूर्ण कविता करते हैं।

नीचे दी हुई रचना में भारतवर्ष के सम्बन्ध में आपके उद्गार हैं। इस छोटी-सी कविता में भारत की ऐतिहासिक महत्ता की स्मृति करा दी गई है। भाषा स्पष्ट है, उसमें बहुत प्रवाह है।

भारतवर्ष

वह महिमाय अपना भारत, वह गरिमामय सुन्दर स्वदेश ।
 युग-युग से जिसका उन्नत शिर है किये खड़ा हिमगिरि नगेश ॥
 जिसके मंदिर के शंखों से गूँजा अजेय बन ब्रह्मवाद ।
 भूले नश्वर तन का प्रमाद अमरात्मा का पाया प्रसाद ॥
 हैं अमर कीर्त्ति, हैं अमर प्राण अमरों का अद्भुत अमिट देश ।
 इतिहास-पटल पर संसृति के जो स्वर्ण-वर्ण में लिखा नाम ॥

वह है रघुपति की जन्मभूमि, वह है यदुपति का जन्म-धाम ।
जिसके तृण-तृण में कण-कण में वंशी बजती रहती अशेष ॥

युग-युग से जो पृथ्वीतल पर है भासमान बन-गगन-दीप ।
कितने ही राष्ट्र-यान उबरे पाकर प्रकाश जिसके समीप ॥
भवसागर के अपार तट का जो कर्णधार कौशल-निवेश ।
रण वरण किया धर चरण सुदृढ़ तब मरण बना निज स्वर्गद्वार ॥

पुरुषों ने रण-कङ्कण पहना रमणी न जौहर का शृंगार ।
आभरण बनाया गौरव को आवरण हटा मुख के अशेष ॥
कितने ही राष्ट्र उठे जग में कितने ही राष्ट्र हुए विलीन ।
जो महाकाल की छाती पर आरूढ़ आज बन चर-नवीन ॥
विश्वभर के करुणा बल पर युग-युग दुर्जय देशेश देश ।

कान्तानाथ पाण्डेय 'हंस'

[जन्म सन् १९१५]

पाण्डेयजी काशी के रहनेवाले हैं और वहीं हरिश्चन्द्र इन्टर कालेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। हिन्दी में आप हास्यरस की रचनाओं के लिए विख्यात हैं। आप संस्कृत तथा हिन्दी के विद्वान् हैं। आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

आपकी रचित भारत-वन्दना नीचे दी जाती है। यह वन्दना ललित संगीतपूर्ण भाषा में लिखी गई है। शब्दों की योजना प्रसादपूर्ण, मधुर और सरस है। इस गीत में सरिता की कलकल-ध्वनि का आनन्द आता है। यह कविता भी सांस्कृतिक भावों से ओतप्रोत है और हमारी सांस्कृतिक महत्ता को स्मरण कराती है।

भारत-वन्दना

हे विश्ववन्द्य भारत भूतल !

हे तपोभूमि हे पुण्य प्रबल !

लेकर हीरक हारावलियाँ करता है सागर पद-वन्दन ।
बारसाकर नव किसलय कलियाँ द्रुमवल करते हैं अभिनन्दन ।
स्वर्णम किरणों से बालारुण करता है तव शृङ्गार सघन ।
राका हिमकर कमनीय तरुण करता है तेरा नीराजन ॥

तेरा घर वेष अमित उज्ज्वल,

हे तपोभूमि हे पुण्य प्रबल !

महिमा तेरी सुर बालाएँ गाती हैं आनन्दित होकर ।
तेरी सुखमय श्री-सुषमाएँ पूजित हैं संवर्धित होकर ।
तेरा आलोक अमित अद्भुत प्राचीन चिरन्तन है नूतन ।
तेरा सौंदर्य सरल अक्षय करता है कैसा सम्मोहन ।

हे महामहिम, अतिशय अविचल !

हे तपोभूमि, हे पुण्य प्रबल !

सीता-सी सतियों के स्वदेश, राघव-से पतियों के स्वदेश ।
यादव-से यतियों के स्वदेश, शुक से सद्बतियों के स्वदेश ।
गङ्गा यमुना की धाराएँ करती हैं तव अभिषेक सरल ।
मलयानिल है इतना सुरभित, पाकर तेरे यश का परिमल ।

हे बन्दनीय, हे वीर विमल !

हे तपोभूमि, हे पुण्य प्रबल !

तूने प्रकाश की एक किरण दे किया विश्व-अज्ञान ध्वस्त ।
तेरे चरणों पर बार-बार झुकता है भूमण्डल समस्त ।

किसका भय है ? तू है निर्भय, तू है अजेय, अनिवार्य-भूमि !

औदार्यभूमि, सत्कार्यभूमि, आचार्यभूमि, हे आर्यभूमि !

हे अचल-मुकुट, हे मुकुट-अचल !

हे तपोभूमि, हे पुण्य प्रबल !

महावीरप्रसाद द्विवेदी

[स० १९२१-१९९५]

द्विवेदीजी रायबरेली ज़िले के दौलतपुर ग्राम में पैदा हुए थे। आरम्भ में आपने अँगरेज़ी के साथ फ़ारसी भी पढ़ी थी। संस्कृत के पण्डित आप थे ही। नौकरी की अवस्था में बङ्गालियों के सम्पर्क में आकर आपने बँगला भी पढ़ी। भाषा पर आपका बड़ा अच्छा अधिकार था। आप पहले रेल के तार-विभाग में नौकर थे। वहाँ कुछ अनबन होने के कारण आपने नौकरी छोड़ दी। संवत् १९६० में आपने 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथों में लिया। बीस वर्षों तक आपने 'सरस्वती' का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। संवत् १९९५ में जलोदर रोग से आपकी मृत्यु रायबरेली में हुई।

आपने हिन्दी गद्य की भाषा के परिमार्जन में बड़ी शक्ति प्रदान की। सरस्वती पत्रिका के द्वारा आपने कितने ही लेखकों को प्रोत्साहित किया और हिन्दी भाषा को व्याकरण के अनुसार शुद्ध लिखने पर जोर दिया। आपके इस प्रयत्न के कारण हिन्दी की एक आदर्श शैली बन गई। आपके सम्पादन-काल में जिसका लेख सरस्वती में छप जाता था वह अपने को धन्य समझता था। जो लेख जाते थे उन्हें आप बड़े परिश्रम से शुद्ध करते थे। भाषा पर आपने बड़ा अच्छा नियंत्रण किया। स्वयं सैकड़ों विषयों पर लेख लिखे और दूसरों से लिखावाये। इस प्रकार से युग के अनुसार नये-नये विषयों से हिन्दी का भाण्डार भरा।

आपने खड़ी बोली में हिन्दी कविता लिखने के लिए लोगों को उत्साहित किया। इसमें भी नये-नये सामयिक विचारों का समावेश हुआ। आपकी समा-शोधना बड़ी खरी होती थी, किसी की मुरब्बत नहीं करते थे। इसलिए अशुद्ध भाषा तथा कुसाहित्य लिखने का किसी को साहस नहीं होता था। आरम्भ में आपका स्वभाव कुछ उग्र था। क्रमशः आपका स्वभाव कोमल होता गया और जीवन के अन्तिम काल में तो आप बड़े विनम्र हो गये थे। आप साहित्यकार ही नहीं, समाज-सेवी और विशुद्ध आत्मा के व्यक्ति थे।

नीचे दिया हुआ अवतरण हिमालय पर एक सुन्दर रचना है। महाकवि कालिदास ने भगवान् शङ्कर के जन्म की कथा लेकर कुमारसम्भव नाम का एक सुन्दर काव्य लिखा है। उसका अनुवाद द्विवेदी जी ने किया है। अनुवाद इतना सुन्दर है कि मौलिक जान पड़ता है। हिमालय के प्राकृतिक दृश्यों का इसमें सजीव वर्णन है।

हिमालय भारत ही नहीं, संसार का सबसे ऊँचा पर्वत है। इसने हमारे देश, हमारी सङ्कृति की रक्षा की है। इसी से गङ्गा-यमुना ऐसी नदियाँ निकल-कर हमारे देश को शस्य-श्यामला स्वर्ग-सी भूमि बनाती है। यह ऋषियों के तप का स्थान है, प्रकृति की सुषमा का भाण्डार है। प्राचीन काल से सभी कवियों की दृष्टि इस ओर गई है।

नीचे तीन कवियों की कविताएँ हिमालय पर दी जाती हैं। तीन कविताएँ तीन युग की हैं और तीन दृष्टि-कोणों से लिखी गई हैं।

हिमालय

(१)

दिव्य दिशा उत्तर में शोभित देवात्मा का अधिकारी,

भूधरपति अति पृथुल हिमालय हिममण्डितभस्तकधारी।

पूर्व और पश्चिम पयोधि के बीच बढ़ाकर तनु भारी,

महीमाप के दण्ड तुल्य है रक्खा बहु विस्मयकारी ॥

(२)

रत्न और ओषधी चमकती है जिसमें नित बहुतेरी,

नहीं न्यून उसकी शोभा को, कर सकती हिम की ढेरी।

(६७)

चन्द्रबिम्ब के भीतर जैसे नहीं कलंक दिखाता है,
तैसे ही गुणगण-समुद्र में एक बोध छिप जाता है ॥

(३)

शृङ्गों पर, अकाल-सन्ध्या-सम, धातु विचित्र बिछाता है,
तिससे जो अप्सरावर्ग को भूषणयुक्त बनाता है।
रश्मिराशि दिनकर की जिसके शिखरों पर छवि पाती है,
अधोभाग में मेघमण्डली जलधारा बरसाती है ॥

(४)

हिम-घोई महि में गज-मुक्ता देख जहाँ पर बिखराये,
कहते हैं किरात "गज-हन्ता सिंह इसी मारग आये"।
बाँस-वृक्ष के छेदों में जो भर समीर न्यारा-न्यारा,
गायक किन्नर-गण को देता मानो ताल परम प्यारा ॥

(५)

रवि के भय, उलूक-सम, दिन में, अन्धकार जब आता है,
अपनी गुहा बीच रख, तो गिरि, उसके प्राण बचाता है।
महानीच भी शरणागत को, जन महान बर-विज्ञानी,
अभय-दान देते हैं, तत्क्षण, कहते हुए मृदुल बानी ॥

(६)

सुरागाय अपनी पूँछों से जिस पर चमर चलाती है,
"है यह महीधरों का राजा" यह मानो बतलाती हैं।
थके किरात जहाँ पाते हैं सुरसरि-कण-लानेवाला,
विमल वायु, जिसने की कम्पित देवदारु-तश्वर-माला ॥

(७)

जिसके उच्च-शिखर-गत जल के कमलों को, नीचे रहकर,
नित ऊर्ध्वगामी किरणों से, विकसित करता है दिनकर।
शक्ति देख जिसकी धरणी के कारण करने की अतितर,
यज्ञभाग, भूधरपतिपद भी, विधि ने दिया जिसे सुखकर ॥

श्रीधर पाठक

[स० १९१६-१९८५]

पाठकजी का जन्म आगरा जिले में फ़ीरोज़ाबाद परगने के जौधरी ग्राम में हुआ था। आपकी शिक्षा संस्कृति, फ़ारसी तथा अँगरेज़ी की हुई थी। आपने सरकार के अनेक विभागों में काम किया था। अन्त में आप प्रान्तीय लाट के दफ़्तर में सुपरिन्टेण्डेंट थे। आपको आरम्भ से ही कविता लिखने की रुचि थी। आरम्भ में आपने ब्रजभाषा में कविता आरम्भ की, फिर द्विवेदीजी के प्रभाव से खड़ी बोली में रचनाएँ कीं। अँगरेज़ी के कवि गोल्डस्मिथ के तीन ग्रन्थों का अनुवाद आपने पद्य में किया—एकान्तवासी योगी, ऊजड़ ग्राम, श्रान्त पथिक। पहली तथा तीसरी रचना खड़ी बोली में है। इन्होंने काश्मीर, शिमला, नैनीताल इत्यादि पहाड़ी प्रान्तों की बड़ी सैर की थी। इनकी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन बड़ा सुन्दर हुआ है। लखनऊ हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के आप सभापति थे।

आपकी रचनाओं में बड़ी मिठास है और आपकी भाषा बड़ी सरल, प्रसाद-गुण-पूर्ण है। आपकी कविता में शब्दों का चुनाव बड़ा सुन्दर है। आप प्रतिभा-सम्पन्न, भावुक, सुरुचिपूर्ण कवि हैं। आपने नये ढाँचे के छन्द भी निकाले जिनमें गति और लय है। अपने समय के कवियों में सबसे अधिक प्रकृति-वर्णन पाठकजी ने किया है। उसी का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

आपके हिमालय-वर्णन और द्विवेदीजी के हिमालय-वर्णन में वही अन्तर है जो कालिदास और पाठकजी के समय के अन्तर में हो सकता है। हिमालय के दृश्यों तथा स्थानों का कवि ने ब्योरे से वर्णन किया है। पाठक के सामने पूरा चित्र उपस्थित हो जाता है। कवि ने जहाँ-जहाँ उपमाएँ दी हैं वे बिलकुल अच्छी और मनोहर हैं।

हिमालय

(१)

उत्तर दिक् नगराज, अटल छवि सहित विराजत,
लसत स्वेत सिरमुकुट, भलक हिम सोभा भ्राजत।

(६९)

वदन देश सविशेष, कनक आभा आभासत,
अधोभाग की स्याम बरन छबि हृदय हुलासत ॥

(२)

स्वेत पीत सँग स्याम धार अनुगत सम अन्तर,
सोहत, त्रिगुन त्रिदेव, त्रिजग, प्रतिभास निरन्तर ।
बिलसत सो तिहुं काल त्रिविध सुठि रेख अनूपम,
भारतवर्ष विशाल भाल भूषित त्रिपुंड सम ॥

(३)

उज्ज्वल ऊँचे सिखर दूर देसन लौं चमकत,
परत भान नव किरन प्रात सुबरन सम दमकत ।
लता पुहुप वनराजि सदा ऋतुराज मुहावत,
हरी भरी डहडही वृक्षमाला मन भावत ॥

(४)

कोकिल कीर कवम्ब, अम्ब चढ़ि गान मुनावत,
स्यामा चारु सुगीत मधुर सुर पुनि पुनि गावत ॥
कहुं हारीत कपोत कहुं मैना लखि परियत,
कहुं कहुं खेचर वर चकोर के दसन करियत ॥

(५)

देवदार की डार कहुं लंगूर हिलावत,
कहुं मरकट को कटक वेग सों तरु तरु घावत ।
विकसित नित नव कुसुम तरुन तरु मुकुलित बौरत,
अलबेले अलिवृन्द कलिन के ढिग ढिग भौरत ॥

(६)

भरना जहें तहें भरत करत कल छर छर जल रव,
पियत जीभ सों अम्बु, अमृत उपमा हिम सम्भव ।
पवन सीत अति सुखद, बुभावत बहु विधि तापा,
बादर दरसत, परसत, बरसत, आपहि आपा ॥

(७०)

(७)

गङ्गा गोमुख स्रवत, कहें को शोभा ताकी,
बरन जन्मस्थली वह कि अथवा जमुना की।
सतलज व्यास चिनाब प्रभृति पंजाब पंच जल,
सरजू आदि अनेकन नदियन कौ निसरन-थल ॥

(८)

पृष्ठभाग रमनीक हचिर राजत रावन-हृद,
ग्रहन करत निज देह, सिन्धु अरु ब्रह्मपुत्र नद।
हरिद्वार केदार बद्रिकाश्रम की शोभा ॥
लखि ऐसी को मनुज जासु मन कबहुं न लोभा,

(९)

पुनि देखिय कसमीर देश नेपाल तराई,
सिकम और भूटान राज्य आसाम लगाई।
दक्षिण भुज अफगान राज मस्तक सों भेंटत,
वाम बाहु सों बरमा के कच-भार समेटत ॥

(१०)

ज्यों समर्थ बलवान सुभावहि सो उदार मन,
देत अभय वरदान मानयुत निज आश्रित गन।
अगनित पर्वत-खण्ड चहुं दिसि देत दिखाई,
सिर परसत आकाश, चरन पाताल छावाई ॥

(११)

सोहत सुन्दर खेत पाँति तर ऊपर छाई,
मानहुं विधि पट हरित, स्वर्ग सोपान बिछाई।
गहरे गहरे गर्त, खड्ड दीरघ गहराई,
शब्द करत ही गोर प्रतिध्वनि देय सुनाई ॥

(१२)

तहाँ निपट निशंक, वन्य पशु मुख सों विचरत,
करत केलि-कल्लोल, मुदित आनन्दित बिहरत ॥

(७१)

कहूँ ईश्वर को ढेर सिद्ध-आबास जनावत,
कहूँ सम्राधिस्थित जोगी की गुहा मुहावत ॥

(१३)

विविध विलच्छन दृश्य सृष्टि सुखमा सुखमंडल,
नन्दन वन अनुरूप भूमि अभिनय रङ्गस्थल ।
प्रकृति परम चातुर्य, अनूपम अचरज आलय,
श्रीधर दग छकि रहत अटल छवि निरखि हिमालय ॥

रामधारीसिंह 'दिनकर'

[सन् १९०८]

दिनकरजी विहार प्रान्त के मंगेर जिले के सिमरियाघाट के रहनेवाले हैं। आपन पटना-विश्वविद्यालय से आनर्स के साथ बी० ए० परीक्षा पास की है! आप सरकारी नौकर हैं और आप बड़े ही सज्जनोचित स्वभाव के सहृदय व्यक्ति हैं। आपमें राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति कूट-कूटकर भरी हुई है। आप बिहार के तो प्रतिनिधि कवि हैं ही, देश भर के हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में आपकी गणना है।

आपकी भाषा में बड़ा ही ओज और प्रवाह है। आपने जो विषय चुने हैं उनमें भारत की आत्मा को जाग्रत कर दिया है। भारत के प्राचीन गौरव को आपन सजीव किया है। नीचे आपकी रचना 'हिमालय के प्रति' दी जाती है। इसके पहले हिमालय पर दो रचनाएँ आप पढ़ चुके हैं। दिनकरजी के हिमालय के वर्णन में तथा उपयुक्त रचनाओं में बड़ा अस्तर है। दिनकरजी की रचना में वर्तमान युग की राष्ट्रीयता की भावना स्पष्ट है। कवि को प्रकृति ने उतना आकृष्ट नहीं किया जितना हिमालय के राष्ट्रीय गौरव तथा इतिहास ने।

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार. दिव्य, गौरव विराट !

पीरुष के पुंजीभूत ज्वाल !

मेरी जननी के हिम-किरीट !

मेरे भारत के दिव्य भाल !

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त

युग-युग गर्वोन्नत, नित महान !

निस्सीम व्योम में तान रहा

युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अखण्ड यह चिर समाधि ?

यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान

तू महाशून्य में खोज रहा

किस जलिल समस्या का निदान ?

उलभन का कैसा विशम जाल

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन तपस्या-लीन यती !

पल-भर को तो कर दृगोन्मेष ।

रे ज्वालाओं से दग्ध विकल

हैं तड़प रहा पद पर स्वदेश ।

मुखसिन्धु पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र

गङ्गा, यमुना की अमिय धार ।

जिस पुण्यभूमि की ओर बहो

तेरी विगलित करुणा उदार ।

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रान्त

सीमापति ! तूने की पुकार—

‘पददलित इसे करना पीछे

पहले ले मेरा शिर उतार ।’

उस पुण्यभूमि पर आज तपी,

रे आन पड़ा सङ्कुट कराल ।

व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
उस रहे चतुर्विध विविध व्याल ।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गईं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष ?
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश
कितनी हुपबा के बाल खुले
कितनी कलियों का अन्त हुआ ।
कह हृदय खोल चित्तीर यहाँ
कितने दिन ज्वाल बसन्त हुआ ?
पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता दीप लिये
फिरनेवाला बलवान् कहाँ ?

तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
बुन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

पेरों पर ही है पड़ी हुई
निधिला भिखारिणी सुकुमारी ।
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सखी ?

री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मङ्गल-उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गण्डकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर ।
पर फिरा हमें गाण्डीव, गदा
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर ।

कह दे शङ्कर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार ।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार ।

ले अँगड़ाई उठ हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद ।
तू शैलराट् ! हुङ्कार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद ।

तू मौन न्याग कर सिंहनाद
रे तपी ! आज तप का न काल
नवयूग-शङ्खध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल

मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग शङ्खध्वनि जगा रही
जागे नगपति ! जागे विशाल !

श्रीधर पाठक

भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम में काश्मीर बड़ा ही सुन्दर प्रख्यात प्रान्त है । इसके प्राकृतिक सौन्दर्य ने कितने ही कवियों की प्रतिभा को जाग्रत करके काव्य-सरिता की धारा बहाई है । इस सम्बन्ध की दो रचनाएँ—एक ब्रजभाषा में और दूसरी खड़ी बोली में—यहाँ दी जाती हैं ।

पाठकजी के काश्मीर-वर्णन में वही शैली है जो उनके हिमालय-वर्णन में है । भाषा तो मधुर है ही; काश्मीर की दृश्यों की सुन्दरता को सरल सुबोध भाषा में व्यक्त किया है । अनेक अलङ्कारों की सहायता से वर्णन को बड़ा मनोहर बनाया है । अनुप्रास, उपमा और रूपक ने पद-पद में सजीवता भर दी है ।

काश्मीर-सुषमा

प्रकृति यहाँ एकांत बँठी निज रूप सँवारति ।

पल-पल पलटति भेस छनिक छबि छिन-छिन धारति ॥

बिमल-अंबु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिंब निहारति ।

अपनी छबि पै मोहि आप ही तन मन वारति ॥

सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति, प्यारी ।

बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी ॥

बिहरति बिबिध बिलास भरी यौवन के मद सनि ।

ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनि ठनि ॥

मधुर मंजुछबि-पुंज छटा छिरकति बनकुंजन ।

चितवति रिझवति हँसति डँसति मुसिक्याति हरति मन ॥

यहि सुरूप सिंगार रूप धरि-धरि बहु भाँतिन ।

सर, सरिता, गिरि, सिखर, गगन, गह्वर, तटवर, वृन ॥

पूरन करिबे काज कामना अपने मन की ।
 किंकरता करि रह्यो प्रकृति-पंकज चरनन की ॥
 चहुँदिसि हिमगिरि-सिखर, हीरमनि मौलि-अवलि मनु ।
 स्रवत सरित-सित-धार द्रवत सोइ चद्रहार जनु ॥

फल फूलन छबि छटा छई जो बन उपबन की ।
 उदित भई मनु अवनि-उदर सों निधि रतनन की ॥
 तुहिन-सिखर, सरिता, सर, बिपिनन की मिलि सो छबि ।
 छई मंडलाकार रही चारिहुँ दिसि यों फबि ॥

मानहुँ मनिमय मौलि-माल-आकृति अलखेली ।
 बाँधी बिधि अनमोल गोल भारत-सिर सेली ॥
 अर्द्धचन्द्र सम सिखर-स्रनि कहूँ यों छबि भाई ।
 मानहुँ चंदन-धौरि, गौरि-गुरु खौरि लगाई ॥

पुनि तिन स्रनिन बीच बितस्ता रेखु जु राजति ।
 वेषणव 'श्री' अरु सिव त्रिसूल की आभा भ्राजति ॥
 हिम स्रनिन सों घिर्यो अद्रि-मंडल यह रुरौ ।
 सोहत द्रोनाकार सृष्टि-सुषमा-सुख पुरी ॥

बहु बिधि दृश्य अदृश्य कला-कौशल सों छापी ।
 रञ्छन निधि नैसर्ग मनहुँ बिघ दुगं बनायो ॥
 अथवा बिमल बटोरि विश्व की निखिल निकाई ।
 गुप्त राखिबे काज सुबुढ़ संवृक बनाई ॥

कै यह जादू भरी विश्व बाजीगर थेली ।
 खेलत में खुलि परी सैल के सिर पै फेली ॥
 खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी ।
 खुली धरी कं भरी तासु सिंगार-पिटारी ॥

कै यह विरसित ब्रह्म-वाटिका की कोउ क्यारी ।
जोगिराज ने इहाँ जोग-बल ऐँचि उतारी ॥
कै साभग्री सहित भैरवी-वक्र भँभारी ।
परिकल्पित करि धरी शक्ति-पूजन को थारी ॥

किधौ चढ़ायौ वाता ने भारत के मस्तक ।
माया-मालिनि रच्यौ चार पुसुनन को गुच्छक ॥
कामधेनु पे रवि-हय बी खर-छाप सलोनी ।
कै बसुधा पे सुधा - धार - ब्रह्म - द्रव - द्रोती ॥

परम पुरुष की पटरानी माया की स्पंदन ।
मंडप छत्र उतारि बर्यौ, उतर्यौ कै नंदन ॥
कै जब लै शिव चले दक्ष-तनया कै अंगन ।
गिरि-शृंगग गिरि खिल्यौ प्रिया के कर को कंगन ।

विष्णुनाभि ले उग्यौ मुन्यौ जो कमल सहस-दल ।
कै यह सोई सुभग स्वयंभू को सुजन्म-थल ॥
प्रकृति नटी को पटी-रहित प्रगट्यौ नाटक-घर ।
कै सिवतंत्र सटीक खुल्यौ बिलसित टिखटी पर ॥

कै त्रैलोक्य बिभूति भरित अवधूत कमंडलु ;
कै तप-पूज-प्रसूत विश्व-सोभा-श्री मंडल ॥
सुरपुर अरु सुरकानन की सुठि सुबरताई ।
त्रिभुवन मोहन करनि कबिन् बहु बरनि सुनाई ॥

सो सब कानन सुनी, किंतु नैननि नहि देखी ।
जहँ तहँ पोथिन पढ़ी, पे सु परतच्छ न पेखी ॥
सो कवियन जो कही कलित सुरलोक निकाई ।
याही कौ अवलोकि एक कल्पना बनाई ॥

सुरपुर अरु कश्मीर दोउन में को है सुंदर ।
को शोभा को भौन रूप को कौन समुंदर ॥
काकोँ उपमा उचित देन दोउन में काकी ।
याकोँ सुरपुर की अथवा सुरपुर को याकी ॥

याकोँ उपमा याही की मोहि देत सुहावै ।
या सम दूजौ ठौर सृष्टि म दृष्टि न आवै ॥
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुर-कानन सुंदर ।
याहि अमरन को ओक, यहीं कहूँ बसत पुरंदर ॥

देवेन्द्र नाथ पाण्डेय

[जन्म स० १९७०]

आप एक प्रतिभाशाली नवयुवक कवि हैं। हिन्दी और संस्कृत के विद्वान् हैं। आपका एक काव्य-संग्रह 'मन्दारमाला' प्रकाशित हुआ है जिसमें मुक्तक कविताएँ हैं। उसी संग्रह में से यहाँ 'काश्मीर में' रचना दी जाती है। आप की भाषा खड़ी बोली है। आपने छन्द तो प्राचीन ढङ्ग से अपनाये हैं, जैसे सवैया और कवित्त, किन्तु उनमें भाव नवीन है। नीचे की रचना में अमरनाथ महादेव की प्रशस्ति है और काश्मीर-सुषमा का दिग्दर्शन भी। आपका प्रकृति-वर्णन चित्ताकर्षक है। साथ ही धार्मिक भाव भी कविता में भरा है। कविता में ओज है।

काश्मीर में

पावन बनाता पाप-ताप से बचाता प्रभो,
पल में उपासकों को आपकी कृपा का हाथ ।
देक यह भक्त की, पुकार दीन-जन की है—
परके अब दर्शन रहूँगा मैं नहीं अनाथ ॥

अमर वरों से सदा वन्दित पदारविन्द,
 अब जन्म-मरण का भूल भी न होवे साथ ।
 तारण - तरण हरो तम आवरण मेरा
 चरण शरण तव अमर - अमर - नाथ ॥ १ ॥
 शैल शिखरों पे बिखरी है रम्य हिम-राशि
 दूर से बनाती इसे रजत-शरीर है ।
 और कोई मोती से लुटाता है प्रतीची ओर,
 रवि बिखराता स्वर्ण नदियों के तीर है ॥
 केसर सुमन हँसते हैं, मन हँसता है,
 और फिर जाने यह होता क्यों अधीर है ।
 पामपुर ग्राम के निकट सांध्य बेला और
 शीतल समीर है, प्रदेश काश्मीर है ॥ २ ॥
 पहले स्वजल के प्रवाहों से जलद-माला
 सम्मुखीन गिरि-शिखरों को स्वच्छ करती ।
 फिर बन स्फटिक-शिलाओं के समान श्वेत
 किन्नर-किशोरियों सी वायु में बिहरती ॥
 तब हंस-पंक्ति सी विजन वह देश जान,
 धीरे - धीरे अपने चरण वहाँ धरती ।
 मान काश्मीर को अधिक स्वर्गलोक से भी
 मानो स्वर्ग-गङ्गा स्वमेव हो निकलती ॥ ३ ॥
 प्रकृति की कारीगरी की है यहाँ भाँकी सजी,
 जिसके कि सम्मुख है फीका विश्व का विधान ।
 उन्नत महीधरों के शिखरों पे दुग्धवाले,
 फेन सी बरफ़ की है चाखर बिभासमान ॥
 सांध्य सूर्य-किरणों की स्वर्ण झलकों से वह
 झलक रही है झिलमिल अग्नि के समान ।
 मानो चंचल से विभीत शिव-शंकर ने
 अनल का घेरा हो लगाया आत्म-सन्निधान ॥ ४ ॥

यह फल, मेवा, स्वाद में जो सुधा के ममान,
 यह रिमझिम बरसात सुख-दायिका ।
 पावन वितस्ता यह अपनी तरंगों द्वारा,
 भारतीय पुरावृत गौरव की गायिका ॥
 गिरि महादेव यह सर्पों के अभाव से है,
 जिसकी कि शक्ति स्वभाव-परिचायिका ।
 अमर अमरनाथ की है कृपा साथ साथ
 काश्मीर में सदैव शान्ति की विधायिका ॥ ५ ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

[जन्म सं० १९२२]

हरिऔधजी का जन्म आजमगढ़ जिले के निजामाबाद कस्बे में हुआ था । आपके काव्य-गुरु थे सिखों के गुरु शाहज्जादा बाबा सुमेरसिंह । आप भी पहले ब्रजभाषा में कविता करते थे, फिर खड़ी बोली में लिखने लगे । आपने अनेक शैलियों में कविताएँ लिखी हैं । दो उपन्यास भी आपने लिखे हैं । बोल-चाल तथा मुहावरों में भी आपने रचना की है । आपका सबसे प्रख्यात तथा कवित्व-पूर्ण प्रबन्ध-काव्य प्रिय-प्रवास है । उसमें श्रीकृष्ण की कथा है । उसी में से यह अवतण दिया जाता है । भगवान् जब गोकुल छोड़कर मथुरा चले गये तब नन्द बड़े दुखी हो गये । वे सब पुरानी बातों को स्मरण करते हैं और उसी के साथ ब्रज की पुरानी सुषमा तथा गरिमा का भी चित्र उनकी आँखों के सामने आता है । जब भगवान् ब्रज में रहते थे तब ब्रज का क्या हाल था ।

इस छन्दों में यह स्पष्ट झलकता है कि भाषा विशुद्ध तत्सम है; फिर भी कर्णकट नहीं है, मधुर है । वर्णन में भी भावुकता निहित है । यह इनके काव्य की विशेषता है ।

हिन्दी-साहित्य में व्रज का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-भूमि है इसलिए भक्त तथा भक्तिभावों से भरे कवि लोग सदेव इधर आकर्षित होते रहे हैं। अनेक कवियों ने व्रज की मुन्दरता और वहाँ के रम्य वातावरण पर कविता की है। इस सम्बन्ध की दो रचनाएँ दी जाती हैं।

व्रजभूमि

स्व-सेत-आभा-मय दिव्य पुष्प से ।
वसुन्धरा में अतिमुक्त संज्ञका ॥
विराजती थी वन में विनोदिता ।
महान-मेधाविनि-माधवी लता ॥

ललामता कोमल कान्ति-मानता ।
रसालता से निज पत्र-पुंज की ॥
स्वलोचनों को करती प्रलुब्ध थी ।
प्रलोभनीया-लतिका लवंग की ॥

स-मान थी भूतल में जिलुण्ठिता ।
प्रवर्चिता हो प्रिय चारु-अंक से ॥
तमाल के-से असितावदात वी ।
प्रियोपमा श्यामलता प्रियंगु की ॥

कहीं शयाना महि में स-चाव थी ।
विलम्बिता थी तरु-वृन्द में कहीं ॥
सु-वर्ण-मापी-फल लाभ कामुका ।
तपोरता कानन रत्तिका लता ॥

सु-लालिमा में फलकी लगी दिखा ।
विलोकनीया - कमनीय - श्यामता ॥
कहीं भली है बनती कु-वस्तु भी ।
बता रही थी यह मंजु-जिका ॥

ठाकुर गोपालशरण सिंह

[जन्म सं० १९४८]

आपका जन्म रीवां राज्य में नई गढ़ी में हुआ था। आप आरम्भ में ब्रजभाषा में कविता करते थे। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदा के सरस्वत का सम्पादन करते समय आप खड़ी बोली में कविता करने लगे। आपकी कई कविता-पुस्तकें छप चुकी हैं। आपने अनेक शैलियों में रचना की है। ठाकुर साहब कोमल भावनाओं के कवि हैं। प्रेम आपका मुख्य आदर्श है चाहे वह ईश्वर के प्रति हो, चाहे देश के प्रति और चाहे संसार के प्रति। आपके गीतों में कृष्ण का स्वर भी पाया जाता है।

आपने ब्रज का भी वर्णन किया है। इन छन्दों में प्राकृतिक वर्णन की छटा नहीं है, भगवान् कृष्ण का ब्रज से जो सम्बन्ध है उसी का मधुर वर्णन है। कवि ने यह दिखाया है कि ब्रजभूमि कृष्णमय है, आज भी उसका वही महत्त्व है, आज भी वे वहाँ भासित होते हैं। खड़ी बोली में रचना होने पर भी ब्रजभाषा की सरसता इन छन्दों में है।

ब्रजछटा

(१)

आते जो यहाँ हैं ब्रजभूमि की छटा वे देख,
नेक न अघाते होते मोद मद माते हैं।
जिस ओर जाते उस ओर मन भाये दृश्य,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं॥
फल भर को वे अपने को भूल जाते सदा,
सुखद-अतीत-सुध-सिन्धु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कहैया यहाँ,
मेया मेया देखते हैं मेया को चरते हैं॥

(८३)

(२)

करते निवास हैं छवि-धाम धनश्याम-भृङ्ग,
उर-कलियों में सदा व्रज नरनारी की ।
कण-कण में है यहाँ व्याप्त वृग-सुखकारी,
मंजु मनोहारी मूर्ति मज्जुल मुरारी की ॥
किसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देखकर गोवर्धनधारी की ?
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्मभूमि यही,
जन-मन-हारी वृन्दा-विपिन-बिहारी की ॥

(३)

अङ्कित व्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम-बल्लियों में और फूल-फूल में ।
भूमि ही यहाँ की सब काल बतला-सी रही,
ग्वाल-बाल सङ्ग वह लोटे इस धूल में ॥
कल-कल रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जाके सुनो कलित कलन्दजा के कूल में ।
ग्राम-ग्राम धाम-धाम में है धनश्याम यहाँ,
किन्तु वे छिपे हैं मंजु मानस-दुकूल में ॥

(४)

गूँज रही आज भी सभी के श्रवणों में यहाँ,
रुचिर रसाल ध्वनि नूपुरों के जाल की ।
भूल सकता है कोई व्रज में कभी क्या भला,
निपट निराली छटा चाह बनमाल की ॥
समता मराल ने न नेक कभी कर पाई,
मंजु मन्द-मन्द नन्द-नन्दन की चाल की ।
रहती दूगों में छाई उर में समाई सदा,
छवि मनभाई बाल मदन-गोपाल की ॥

(८४)

(५)

अब भी मुकुन्द रहते हैं व्रज-भूमि ही में,
देखते यहाँ के दृश्य दृग् फेर-फेर के।
छिपे उर-कुण्डल में हैं वृन्दावन-वात्सियों के,
थकते दृथा ही लोग उन्हें हेर-हेर के॥
चित्त-वृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की सनी,
रहतीं उन्हीं के आस-पास घेर-घेर के।
आठों याम सब लोग लेते हैं उन्हीं का नाम,
मानते हैं बुलाते "श्याम श्याम" ढेर-ढेर के॥

(६)

उमड़ रहा है प्रेम-पारावार मानस में,
व्रज-वनिताएँ कैसे बैठी रहें मान में।
किस भाँति आज व्रजराज से करे बे लाज,
रहता सदैव है समाया वह ध्यान में॥
मन में बसी है मूर्ति उसी मन मोहन की,
हिचकें भला वे कैसे रूप-रस-पान में।
मृदु मुरली की तान प्राण में है गूँज रही,
कैसे न सुनोगे उसे अँगुली दे कान में॥

(७)

जिसने विपत्तियों से व्रज को बचाया सदा,
विष्य बल-पीरुष दिखाया बालपन में।
मार क्रूर कंस को स्वदेश का छुड़ाया क्लेश,
सुयश प्रकाश छिटकाया त्रिभुवन में॥
सब को सदैव सिखलाया शुचि विश्व-प्रेम,
गीता को बनाया उपजाया ज्ञान मन में।
दुख को हटाया सुख-बेलि को बढ़ाया वह,
श्याम मनभाया है समाया वृन्दावन में॥

(८५)

(८)

वही मंजु मही वही कलित कलिनन्दजा है,
ग्राम और धाम भी विशेष छविधाम हैं ।
वही वृन्दावन है निकुंज द्रुमपुंज भी हैं,
ललित लताएँ लोल लोचनाभिराम हैं ॥
वही गिरिराज गोपजन का समाज वही,
वही सब साज बाज आज भी ललाम हैं ।
व्रज की छटा विलोक आता मन में है यही,
अब भी यहाँ ही शुभ-नाम घनश्याम हैं ॥

(९)

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुषमा सभी की सुध श्याम की दिलाती है ।
फूली फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से,
सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है ॥
सुयश उन्हीं का शुक सारिका सुनाती सदा,
कूक कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है ।
हरी भरी दृग-सुखदाई मनभाई मंजु,
यह व्रज मेदिनी उन्हीं की कहलाती है ॥

(१०)

सुखद सजीली सस्य श्यामला यहाँ की भूमि,
श्याम के ही रंग में रंगी है प्रेम भाव से ।
रज भी पुनीत हुई उनके चरण छू के,
शीश पर उसको चढ़ाते भक्त भाव से ॥
पापपुञ्ज-नाशी उर-कमल-विकाशी हुआ,
यमुनासलिल बस उनके प्रभाव से ।
कर दिया पूरा उसे वर वृन्दावन ने ही,
जो थी कमी मेदिनी में स्वर्ग के अभाव से ॥

पद्माकर

[सं० १८१०-१८९०]

पद्माकर नैलङ्ग ब्राह्मण थे। बाँदा में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने रामचन्द्र की कथा 'रामरसायन' नामक ग्रंथ में लिखी है। 'हिम्मतबहादुर-विरदावली' वीररस का काव्य लिखा, और शृङ्गाररस की पुस्तक जगद्विनोद लिखी। इन्होंने फुटकर कविताएँ भी कई लिखी हैं। ये अनेक राजाओं के दरबारों में रहे। रीतिकाल के कवियों में इनके समान सर्वप्रिय कवि बिहारी को छोड़कर और कोई नहीं हुआ। इनकी रचनाओं में बड़ी सरसता और कोमलता है। इनकी अनुप्रासों की छटा अवर्णनीय है। विषय के अनुसार इनकी भाषा बदलती रहती है। जिस रस की कविता है उसी के अनुरूप भाषा इन्होंने रखी है।

नीचे के छन्द इनकी 'गङ्गा-लहरी' में दिये जाते हैं। कहा जाता है कि इन्हें कोढ़ हो गया था। ये बिठूर में कानपूर, दल गङ्गा-स्नान के लिए गये और राह में ये छन्द बनाये। गङ्गा-स्नान के पश्चात् ये रोगमुक्त हो गये। कुछ भी हो, गङ्गा-सम्बन्धी इनके कवित्त बड़े ओजपूर्ण, विश्वास से भरपूर और भक्ति से ओत-प्रोत है। वाक्यों में महावरों का भी अच्छा प्रयोग हुआ है। अनुप्रास और यमक के तो ये गुरु ही थे।

गङ्गा के प्रति हिन्दू-जनताभाव बड़ी ही श्रद्धा के है। इसे पतितपावनी सरिता मानते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से भी इसकी शोभा निराली है। अपने-अपने देश की सरिताओं पर अनेक कवियों ने अपने उद्गार प्रकट किये हैं। फिर गङ्गा जो स्वर्ग की सोपान समझी जाती है, उसके प्रति कवियों का आकर्षण ही तो क्या आश्चर्य। यहाँ दो महाकवियों की रचना गङ्गा पर दी जाती है।

(८७)

गङ्गा-तहरी

(१)

कूरम पै कोल, कोल हूँ पै सेष-मंडली है,
 कुंडली में फबी फैल सुफन हजार की ।
 कहै 'पदमाकर' त्यों फन ५ फबी है भूमि,
 भूमि में फबी है थिति रजत-पहार की ॥
 रजत-पहार पर सम्भु सुरनायक है,
 सम्भु पर ज्योति जटाजूट है अपार की ।
 सम्भु-जटा-जूटन में चन्द की छुटी है छटा,
 चन्द की छटान : छटा है गङ्गा-धार की ॥

(२)

करम को मूल, तन-तन मूल जीव जग,
 जीवन को मूल अति आनंद ही धरिबो ।
 कहै 'पदमाकर' त्यों आनंद को मूल राज,
 राज-मूल केवल प्रजा को भौन-भरिबो ॥
 प्रजा-मूल अन्न, सब अन्न को मूल मेघ,
 मेघन को मूल एक जज्ञ अनुसरिबो ।
 जज्ञन को मूल धन, धन-मूल धर्म, अ
 धर्म-मूल गङ्गाजल-बिन्दु पान करिबो ॥

(३)

सहज सुभाय आय एक महापातकी की,
 गङ्गा मया धोई तू तौ देह निज आप है ।
 कहै 'पदमाकर' सुमहिमा मही में भई,
 महादेव देवन में बाढ़ी थिर थाप है ॥
 जकि-से रहे हैं जम, थकि-से रहे हैं बूत,
 दूनी सब पापन के उठी तन ताप है ।

(८८)

बाँची वही बाकी गति देखिकै बिचित्र रहे,
चित्र के से लिखे चित्रगुप्त चुपचाप है ॥

(४)

गङ्गा के चरित्र लिख भाष्या जमराज यह,
एरे चित्रगुप्त मेरे हुकुम में कान दे ।
कहे 'पदमाकर', नरक सब मूँद करि,
मूँवि दरवाजन की तजि यह थान दे ॥
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव, यात,
हुतन बुलाइ के बिदा के बेगि पान दे ।
फारि डार फरद न राख रोजनामा कहें,
खात। खति जान न बही को बहि जान दे ॥

(५)

जैसे तै न मो सों कहूँ नेकहूँ डरात हुतो,
तैसे अब नोसों ही हूँ नेकहूँ न जरिहों ।
कहे 'पदमाकर' प्रचण्ड जौ परंगो तौ,
उमँड़ि करि तोसों भुजवण्ड ठोंकि लरिहों ॥
चलो-चल चलो-चलु बिचल न बीच ही तें,
कीच-वीच नीच नो कुटुम्ब को चरिहों ।
ए रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गङ्गा की कछार में पछारि छार काँ हों ॥

(६)

आयो जौन तेरी धौरी धारा में धँसत जात,
तिनको न होत सुरपुर में निपात है ।
कहे 'पदमाकर' तिहारो नाम जाके मुख,
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है ॥
तेरो तोय हूँ के औ' छुबति तन जा ने बात,
तिनकी चले न जम-लोफन में बात है ।

(८९)

जहाँ-जहाँ मैया तेरी धूरि उड़ि जात गङ्गा,
तहाँ-तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है ॥

(७)

पापिन की पाँति भाँति-भाँति बिललाति परी,
जम की जमाति हलकपन हिलति है ।
कहै 'पदमाकर' हमेस दिव्य-बीथिन में,
बानन का रल-ठल ठलनि ठिलति है ॥
सुरधुनि रावरे उधारे जग-जीवन की,
छिन-छिन सेन सिवलोक को मिलति है ।
आसन अरघ देत-देत निसि-बासर,
बिचारे पाकसासन को साँस न मिलति है ॥

(८)

कलित कपूर में न कीरति कुमोदिनी में
कुन्द में न ककास में कपास में न कन्द में ।
कहै 'पदमाकर' न हंस में न हास हूँ में,
हिम में न हेरि हारो हीरन के वृन्द में ॥
जेती छबि गङ्ग की तरङ्गनि में ताकियत
तेती छबि छीर में न छीरधि के छन्द में ।
चैत में न चैत चाँदनी हूँ में चमेलिन में
चन्दन में है न चन्दबूड़ में न चन्द में ॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[सं० १९०७—१९४१]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काशी के विख्यात वैश्यकुल में उत्पन्न हुए थे । आपके-
पिता भी ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि थे । पहला दोहा भारतेन्दु न पाँच साल की अव-
स्था में कहा था । आप वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक हैं । हिन्दी में वर्तमान युग के

नाटकों के पहले निर्माता आप ही है। आप कवि भी बहुत ऊँची श्रेणी के थे। चौतीस साल की ही अवस्था में हिन्दी में पचासों ग्रन्थ—नाटक, कविता, गद्य—आपने लिख डाले। आपने खड़ी बोली में भी कविता की है किन्तु आपकी अधिकांश रचना ब्रजभाषा की है। आपकी ब्रजभाषा बड़ी सरल, मधुर और रसपूर्ण है। आपकी कविताएँ प्रेम तथा भक्ति-सम्बन्धी हैं। आपने रचनाओं में भावों को खूब भरा है।

यहाँ जो अवतरण दिया जाता है वह उनके नाटक 'सत्यहरिश्चन्द्र' से लिया गया है। राजा हरिश्चन्द्र जब काशी में बिकन आया तब उस समय कवि काशी का वर्णन करता है। काशी में गङ्गा के किनारे जो घाट है वही का प्रातः कालीन दृश्य है। इस रचना में गङ्गा की उत्पत्ति, उसका वंश, नगर के घाट की शोभा दिखाई गई है। वर्णन बहुत सजीव और हृदयग्राही है। पदमाकर के वर्णन में भक्ति-भावना अधिक है, हरिश्चन्द्र के वर्णन में प्राकृतिक छटा भी है।

गङ्गा-व्रवि

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक-सी सोहति ।
 बिच-बिच छहरति बंद मध्य मुक्ता-मणि पोहति ॥
 लोल लहर लहि पवन एक पै डक इमि आवत ।
 जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥
 सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सबके मन भावत ।
 दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत ॥
 श्रीहरि-पद-नख-चंद्रकांत-मनि-द्रवित सुधारस ।
 ब्रह्म-कमंडल-मंडन, भव-खंडन सुर-सरबस ॥
 शिव-सिर-मालति-माल, भगीरथ-नृपति-पुन्य-फल ।
 ऐरावत-गज गिरि-पति-हिम-नग-कंठहार कल ॥
 सगर-सुवन सठ सहस परस जल मात्र उधारण ।
 अग्नित धारा रूप धारि सागर संचारण ॥

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंटघो उठि धाई ।
 पसने हू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई ॥
 कहँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।
 कहँ छतरी, कहँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत ॥
 धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका ।
 घहरत घंटा-धुनि धमकत धौसा करि साका ॥
 मधुरी नौबत बजत, कहू नारी-नर गावत ।
 वेद पढ़त कहँ द्विज, कहू जोगी ध्यान लगावत ॥
 कहँ सुंदरी नहात बारि कर-जुगुल उछारत ।
 जुग अम्बुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु मुच्छ निकारत ॥
 घोवत सुंदरि वदन करन अति ही छवि पावत ।
 बारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत ॥
 सुंदरि ससिमुख नीर-मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
 कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ॥
 दीठि जहीं जहँ जात रहत तित ही ठहराई ।
 गंगा-छबि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई ॥

श्रीधर पाठक

पाठकजी प्रकृति के सुन्दर कवि हैं। यह वर्णन हिमालय पड़ाह पर के एक बन का है। ग्रीष्म, पावस और बसन्त में इस बन की शोभा कैसी हो जाती है, आठ छन्दों में कवि ने दिखाया है। सरल और सरस भाषा में कवि ने शोभा का वर्णन किया है। अन्तिम छन्द में बन की माहमा है।

बनाष्टक

प्रेमी की मूल सलोनी लता, बिलसै द्रुम-अंगन सों लिपटी ।
 नव-पल्लव-संग प्रसून खिले, रचै रङ्ग विरगित चित्र-पटी ॥

बिटपावली बेलें बनावैं वितान, अनेकन एक सों एक सटी ।
बन-भूमि की ऐसी छबीली छटा, अलि के उर अंतर आनि अटी ॥ १ ॥

चार हिमाचल-औचल में, एक साल बिलासन की बन हैं ।
मृदु-मर्मर-शील भरे जल स्रोत हैं, पर्वत-ओट हैं, निर्जन हैं ।
लिपटे हैं लता द्रुम, गान में लीन, प्रवीन विहङ्गन की गन हैं ।
भटक्यौ तहाँ रावरौ भूख्यौ फिरैं, मव-बावरौ-सौ अलि की मन ॥ २ ॥

कोयल तू कल-बोलनी री शुक प्यारे हरै-पट-धारे, अहो ।
भोरी मैना सुनैना रसीलेन को, सो परेबा परेई के प्यारे, अहो ।
अहो मोरा मचावन-शोरा, चकोरा, पपीहा पिया-रट-वारे, अहो ।
बन के तुम बाँके सदाँ के धनी, बन जीवन प्रान-तिहारे अहो ! ॥ ३ ॥

भिल्ली करे भनकार कहूँ, फुसकारत साँपिनैं रोस भरी ।
पट धुगू डरावने बोलत बोल, बिलापे बिलार घरी पे घरी ।
कहूँ हकत स्यार हैं, भूकत ल्यार, लराई लरें लहि लास मरी ।
निशि-भीसन-भावने या मन की, बनवास की वासना नास करी ॥ ४ ॥

विन्ध्य के वन्य विभाग में एक, सरोवर स्वच्छ सुहावना है ।
कमलों से भरा, भ्रमरों से घिरा, विटपों से सजा, मन-भावना है ।
कलहंस स्वतन्त्र कलोल करें, खग-वृन्ध का बोल लुभावना है ।
बहै मन्द समीर पराग लिये, अनुराग-हिये-हुलसावना है ॥ ५ ॥

जेठ के बारुण आतप से, तप से जगतीतल जावैं जला ।
नभ-मंडल छाया मरुस्थल आ, दल दाँध के अन्धड़ आवैं चला ।
जल-हीन जलाशय व्याकुल हैं पशु, पक्षी, प्रचंड हैं भानु-कला ।
किसी कानन-कुज के धाम में प्यारे, करे विसराम चलौ तो भला ॥ ६ ॥

काली घटा का घमड घटा, मभ-मंडल तारका-वृन्द खिले ।
उजियाली निशा, छविशाली दिशा, अति सोहैं धरातल फूले-फले ।
निखरे सुथरे बन-पन्थ खुले, तरु-पल्लव चन्द्रकला से धुले ।
बन शारदी-चन्द्रिका-चादर ओढ़ें, लसै समलंकृत कैसे भले ! ॥ ७ ॥

भारत में वन ! पावन तू ही, तपस्वियों का तप-आश्रम था ।
जग-तत्त्व की खोज में लग्न जहाँ, ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था ।
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था सात्विक जीवन का क्रम था ।
महिमा वन-वास की थी तब और, प्रभाव पवित्र अनुपम था ॥ ८ ॥

जयशङ्कर प्रसाद

कवि प्रसाद के दो प्राकृतिक वर्णन यहाँ दिये जाते हैं । 'भरना' प्रसाद की बहुत प्रारम्भिक रचना है, इसलिए इसमें विषय की बहुत गहराई नहीं है । भाषा सीधी-सादी है । अलङ्कारों की सजावट नहीं है । भरने का चित्रण करने की भी कवि ने चेष्टा नहीं की है । भरने की स्वाभाविक गति को कवि बताता है और उसका कवि के मन पर जो प्रभाव पड़ा उसका संकेत है ।

दूसरी कविता प्रभात पर है । यह कवि की बड़ी प्रौढ़ रचना है । प्रातः-काल के दृश्य का वर्णन बड़ी ललित भाषा में और बड़ी सुन्दर कल्पना के साथ किया गया है । उषा को नागरी का रूपक देना और अम्बर-यनघट में तारा के घट को डुबाने में शाब्दिक सौन्दर्य ही नहीं है, कल्पना की भी ऊँची उड़ान है । प्रत्येक पंक्ति भावों से भरी है ।

भरना

(१)

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी ।
न है उत्पात, छटा है छहरी ॥

वनो हर भरना,

कठिन गिरि कहां विदारित, करना ।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी ।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी ॥

(१४)

(२)

कल्पनातीत काल की घटना ।
हृदय को लगी अचानक रटना ॥

देखकर भरना,

प्रथम वर्षा से इसका भरना ।
स्मरण हो रहा शैल का कटना ।
कल्पनातीत काल की घटना ॥

(३)

कर गई प्लावित तन-मन सारा ।
एक दिन तब अपाङ्ग की धारा ॥

हृदय से भरना—

बह चला, जैसे वृगजल ढरना ।
प्रणय वन्या ने किया पसारना ।
कर गई प्लावित तन मन सारा ॥

(४)

प्रेम की पवित्र परछाईं में ।
लालसा हरित विटपि भाई में ।

बह चला भरना,

तापमय जीवन शीतल करना ।
बात यह तेरी चतुराई में ।
प्रेम की पवित्र परछाईं में ॥

प्रभात

बीती विभावरी जाग रही !

अम्बर पतघट से डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी ।

खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
 किसलय का अञ्चल डोल रहा,
 लो यह लतिका भी भर लाई—
 मधु मुकुल नवल रस गागरी।
 अघरों में राग अमन्द पिये,
 अलकों में मलयज बन्द किये—
 तू अब तक सोई है आली !
 आंखों में भरे विहाग री !



देव कवि

[सं० १७३०]

ये इटावा के रहने वाले थे। इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं है। ये अनेक राजा-रईसों के आश्रय में रहे। इनके सत्तर-वहतर कविता ग्रन्थ हैं जिनमें पचीस का पता है। इनकी कवित्व-शक्ति बड़ी प्रौढ़ थी, मौलिकता भी खूब थी। ये बहुत प्रतिभा-सम्पन्न कवि हो गये हैं। इनकी रचनाओं में बड़ी सुन्दरता है, भाषा में खासा प्रवाह है। अनुप्रास आदि गुण बहुत हैं।

इनके वसन्त के दो छन्द यहाँ दिये जाते हैं। पहले म वसन्त को बालक बनाकर प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित किया है। दूसरे में वसन्त के वैभव का वर्णन है। वसन्त में प्रकृति ने फाग खेलने का उपक्रम किया है।

हिन्दी कवियों ने ऋतुओं के सौन्दर्य-वर्णन पर बड़ा ध्यान रक्खा। रीति-काल के कवियों के लिए तो ऋतु-वर्णन आवश्यक ही था। प्रबन्ध-काव्यों में भी ऋतुओं का वर्णन किया जाता है। लोग अब अलग से भी ऋतुओं का वर्णन करने लगे हैं। यहाँ पर इस विषय की दो कवियों की रचनाएँ दी जाती हैं—
 एक प्राचीन एक नवीन।

वसंत

डार द्रुम पालन बिछोना नव पल्लव के,
 सुमन भिंगोला सोहै तन छवि भारी दै ।
 पवन भुलावै केकी कीर बतरावै 'देव',
 कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै ॥
 पूरित पराग सों उतारा करै राई-नोन,
 कुंद-कली नायिका लतान सिर सारी दै ।
 मदन महीप जू को बालक वसन्त ताहि,
 प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ॥
 माधुरे भौरनि फूलनि भौरनि, बौरनि बौरनि बेलि बची है ।
 केसरि किमु कुसुंभ कुरौ, किरवार कनेरनि रङ्ग रची है ॥
 फूले अनारनि चम्पक-डारनि, लै कचनारनि नेह तची है ।
 कोकिल रागनि नूत परागनि, देखु री बागनि फाग मची है ॥

कमलेश

श्री रामशङ्कर गुप्त 'कमलेश' कानपुर के रहनेवाले हैं । कानपुर के अनेक कवियों के समान आप भी खड़ी बोली में सबैया तथा कवित्त लिखते हैं । कमलेशजी भावुक कवि हैं । आपकी रचनाएँ कल्पना-प्रधान हैं । भाषा गढ़ी हुई है । प्राकृतिक दृश्यों के चित्र भाव भरे हैं ।

वसन्त-सम्बन्धी आपके छन्द यहाँ दिये जाते हैं । वसन्त की छटा को कवि ने ऐसा रूपक दिया है मानों प्रकृति उत्सव मना रही है । इन छन्दों में बाहरी दृश्यों का निर्जीव वर्णन नहीं है, भावुकता की भी मिलावट है ।

वसंतोत्सव

(१)

ऋतुराज के स्वागत-गायन को बन कोयलें किन्नरियाँ उतरीं ।
 वर बल्लरियों के स्वरूप में पुष्प की डाली लिये परियाँ उतरीं ॥

(१७)

लिये गंध की भेंट बनी नलिनी सरों में सुर-मुन्दरियाँ उतरतीं ।
किरणावलियों के स्वरूप में व्योम से नाचती अप्सरियाँ उतरतीं ॥

(२)

सज के तन पै हरी सारी नई अबनी नया साज सजा रही है ।
फल फूल की डाली लिये करों में बिटपावली मोद मना रही है ॥
ऋतुराज का आगम है इसी से नवराग से कोकिल गा रही है ।
निज रूप पे, रङ्ग पे भूली हुई सरसों नहीं फूली समा रही है ॥

(३)

लहराते बसन्ती समीरण का यह मादक स्पर्श तुम्हें शुभ हो ।
कलियों-कलियों में, दलों-दलों में बिखरा नवोत्कर्ष तुम्हें शुभ हो ॥
हम स्नेहियों की यही कामना है यह ज्योति सा हृष तुम्हें शुभ हो ।
नव ज्योति दे, स्फूर्ति दे, जीवन दे प्रिये ये नव वर्ष तुम्हें शुभ हो ॥

सुमित्रा नन्दन पन्त

[जन्म सं० १९५७]

पन्तजी का जन्म अल्मोड़ा में, कोसानी में, हुआ। आपकी शिक्षा अल्मोड़ा तथा काशी में हुई। आपने आरम्भ में कविता में नई छायावादी शैली को अपनाया। आजकल आप यथार्थवादी कविता करते हैं जिसमें समय के अनुसार घटनाओं का वास्तविक चित्रण होता है। अब तक आपने बारह-तेरह पुस्तकें लिखी हैं जिनमें एक नाटक और एक उपन्यास है, शेष कविताएँ हैं। खड़ी बोली को मधुर बनाने का श्रेय आपको बहुत कुछ है। आपकी पद्यावली बहुत कोमल है और कल्पना की उड़ान बहुत गम्भीर होती है।

वसन्त में पलाश खूब रङ्ग लाता है। इसकी लालिमा वसन्त की एक विशेषता है। यहाँ दो नवीन कवियों द्वारा पलाश के सम्बन्ध का वर्णन है।

पत्तजी ने पलाश के पुष्पों की लाली में ज्वाला देखी। यद्यपि उनका कहना है कि पलाश के वैभव के सम्मुख वन की और छटा ठहर नहीं सकती।

पलाश

मरकत वन में आज तुम्हारी नव प्रवाल की डाल
जगा रही उर में आकुल आकांक्षाओं की ज्वाल !
पीपल, चिलबिल, आम्र, नीम की पल्लव-श्री सुकुमार
तुम्हीं उठाये हो पर वसुधा का मधु यौवन-भार !
वर्ण-वर्ण की हरीतिमा का वन में भरा विकास;
पर नव मधु की निखिल कामनाओं के तुम उच्छ्वास !
शत-शत पुष्पों की, रंगों की रत्नछटा, पलाश !
प्रकट नहीं कर सकती यह वैभव पुष्कल उल्लास !
स्वर्ण-मंजरित आम्र आज, औ' रजत-ताम्र कचनार
नील कोकिला की पुकार है, पीत भृंग-गुंजार—
वर्ण स्वरो से मुखर तुम्हारे मोन पुष्प अंगार
यौवन के नव रक्त, तेज का जिनमें मंदिर उभार !
हृदय रक्त ही अर्पित कर मधु को, अपर्ण-श्री शाल !
तुमने जग में आज जला दी दिशि-दिशि जीवन-ज्वाल !

नरेन्द्र

नरेन्द्र शर्मा ने भी पलाश में अग्नि की कल्पना की है। नरेन्द्रजी कहते हैं कि यह अग्नि छुआछूत की आग है, सबको प्रज्वलित कर देगी।

पलाश

आया था हरे-भरे वन में पतझर, पर वह भी पीत चला।
कोंपलें लग्गीं, जो लग्गीं नित्य बढ़ने, बढ़ती ज्यों चन्द्रकला ॥

चम्पई चाँदनी भी बीती, अनुराग-भरी ऊषा आई।
 जब हरित-पीत पल्लव-वन में लौ-सी पलाश-लाली छाई !
 पतझर की सूखी शाखों में लग गई, आग, शोले दहके।
 चिनगी-सी कलियाँ खिलीं और हर फुनगी लाल फूल लहके ॥
 सूखी थीं नसें, बहा उनमें फिर बूँद-बूँद कर नया खून।
 भर गया उजाला डालों में खिल उठे नये जीवन-प्रसून ॥
 अब हुई सुबह, चमकी कलगी, दमके मल्लमली लाल शोले।
 फूले टेसू—बस इतना ही समझे पर देहाती भोले ॥
 लो, डाल-डाल से उठी लपट ! लो, डाल-डाल फूले पलाश।
 यह है वसन्त की आग, लगा दे आग जिसे छू ले पलाश ॥
 लग गई आग; वन में पलाश, नभ में पलाश, भू पर पलाश।
 लो, चली आग; हो गई हवा भी रंगभरी छूकर पलाश ॥
 आते यों, आयेंगे फिर भी वन में मधुऋतु-पतझार कई।
 मरकत-प्रवाल की छाया में होगी सब दिन गुञ्जार नई ॥

सेनापति

[जन्म स० १६४६ के लगभग]

सेनापति रीतिकाल के विख्यात कवि थे। ये बड़े ही सहृदय थे। ये अनूपशहर के निवासी थे। ऋतु-वर्णन इनके ऐसा हिन्दी में किसी ने नहीं किया। इनके वर्णन में प्रकृति-निरीक्षण है, भाषा का लालित्य तो है ही। श्लेष का इन्होंने खूब प्रयोग किया है। अनुप्रास और यमक भी इनकी रचना में खूब आया है, किन्तु भाषा जटिल नहीं होने पाई है।

दिये हुए कवित्तों में पावस ऋतु के सम्बन्ध में मनोहर कल्पनाएँ की गई हैं। बादल से अँधेरा छा जाने के कवि ने कैसे-कैसे नवीन कारण दिये हैं।

पावस

गगन-अँगन घनाघन तैं सघन तम,
सेनापति नैंक हू न नैंन मटकत हैं ।
दीप की दमक, जीगनाग की भूमक छाँड़ि
चपला चमक और सौं न अटकत हैं ॥
रबि यगौ दबि मानौं ससि सोऊ घसि गयी,
तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं ।
मानौं महा तिमिर तैं भूलि परी बाट, तातैं
रबि, ससि, तारे कहूँ भूले भटकत हैं ॥

सेनापति उनये नये जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोड़ के ।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहूँ भाँति,
आने हूँ पहार मानौं काजर के ढोड़ के ॥
घन सौं गगन छयो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानौं रबि गयी खोड़ के ।
बारि मास भरि स्याम निता के भरम करि,
मेरे जान याही तैं रहत हरि सोड़ के ॥

अब आयौ भादौ, मेह बरसैं सघन कादौ,
सेनापति जादौ-पति बिना क्यों बिहात है ।
रवि गयी, दबि छबि अंजन तिमिर भयो,
भेद निसि-दिन कौं न क्योंहूँ जान्यौ जात है ॥
होति चकचौंधी जोति चपला के चमके तैं,
सूझि न परत पीछे मानौं अधरात है ।
काजर तैं कारौ, अंधियारी भासै गगन में,
घुमरि मरुति घन घोर धहरात है ॥

(१०१)

देव

देव के पावस के छन्द में वही छटा है जो उनके वसन्त के छन्दों में। शब्दों का ऐसा प्रयोग किया है मानो वर्षा में हवा सरसराती बह रही है।

पावस

मुनिकै धुनि चातक मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागनि में, सखि रागत राग अचूकनि सों ॥
कवि 'देव' घटा उनई जु नई, बनभूमि भई दल बूकनि सों।
रंगराती हरी हहराती लता, भुकि जाती समीर के भूकनि सों ॥

रामनरेश त्रिपाठी

[जन्म सं० १९४६]

आपका जन्म कोइरीपुर ग्राम जिला जोनपुर में हुआ। आज-कल आप मुलतानपुर में रहते हैं। आप खड़ी बोली के अभ्यस्त कवि हैं। आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं और अनेक पुस्तकों का सम्पादन किया है। आपकी रचित काव्य पुस्तकों में 'पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न' और 'मानसी' अधिक ख्याति-प्राप्त हैं। आप प्रायः सरल भाषा लिखते हैं, सजीव वर्णन करते हैं। कल्पना को कविता में कम स्थान देते हैं। यह अवतरण आपकी पुस्तक 'पथिक' से लिया गया है। एक पथिक भ्रमण करने निकला है। धूमता-धूमता वह गाँव के निकट पहुँचा है। उसी गाँव का प्राकृतिक दृश्य कवि वर्णन करता है। और गाँव के दृश्य देखने पर उसके मन में क्या भावनाएँ उठती हैं यही इस कविता का विषय है।

कवि ने गाँव का बड़ा यथार्थ वर्णन किया है। वर्णन केवल काल्पनिक नहीं है। कवि ने मनसों द्वारा चित्र बनाया है। भाषा सरल है, कल्पना की ऊँची उड़ान नहीं है।

पथिक

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जलवाला ।
 बहता है अविराम निरन्तर कलकल स्वर से नाला ॥
 अनति दूर पर हरियाली से लबी खड़ी गिरि-माला ।
 किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द-उजाला ॥ १ ॥
 कहीं श्याम चट्टान कहीं दर्पण-सा उज्ज्वल सर है ।
 कहीं हरे तृण खेत कहीं गिरि-स्रोत-प्रवाह प्रखर है ॥
 कहीं गगन के खम्भ नारियल, तार भार सिर धारे ।
 रस-रसिकों के लिए खड़े ज्यों मुप्त नकार-इशारे ॥ २ ॥
 घेर रही हैं जिसे पल्लवित लता सुगन्धित भाड़ी ।
 छाया-शयित सघन आच्छादित कुञ्जित पन्थ पहाड़ी ॥
 सर्वोपरि उन्नत मन की-सी लक्षित अचल-उँचाई ।
 एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई ! ॥ ३ ॥
 ऊँचे से भरने भरते हैं, शीतल धार धवल हैं ।
 यहाँ परम सुख शान्ति समन्वित नित आनन्द अटल हैं ॥
 कहीं धार के पास शिला पर बैठ लोग क्षण भर को ।
 पा सकते हैं शान्ति, मिटा सकते हैं जी के ज्वर को ॥ ४ ॥
 बार बार वक-पंक्ति-गमन से उज्ज्वल फलों वाली ।
 मेघपुष्प-वर्षा से धूमिल घटा क्षितिज पर काली ॥
 लहराती वृग की सीमा तक धानों की हरियाली ।
 वारिज-नयन गगन-छवि-दर्शक सर की छटा निराली ॥ ५ ॥
 कदली वन से हरी घरा को देख न आँख अघाती ।
 क्यों यह नहीं गाँववालों के जी की जलन मिटाती ॥

गेहूँ चने मटर जौ के हैं खेत खड़े लहराते ।
क्या कारण है, जो ये जन का कुछ न विषाद मिटाते ! ॥ ६ ॥
कोकिल का आलाप पपीहे की विरहाकुल बानी ।
तोता मंता का विवाद बुलबुल की प्रेम-कहानी ॥
गातीं मोहन गीत तरनियाँ खेत अखेत निरातीं ।
क्या ये क्षण भर को न किसी के मन का कष्ट भुलातीं ॥ ७ ॥
विमलोदक पुष्कर में विकसे चित्र-विचित्र कुसुम हैं ।
खड़े चतुर्विक शान्त भाव से लतिकालिङ्गित द्रुम हैं ॥
देख सलिल-दर्पण में शोभा वे फूले न समाते ।
दे प्रसून उपहार सरोवर की निज हर्ष जनाते ॥ ८ ॥

चतुर्थ खण्ड

आख्यायिका-काव्य

अँगरेजी में कविता-बद्ध आख्यायिका लिखने का बहुत चलन है। कोलरिज, टेनिसन आदि कवियों ने बड़ी सुन्दर आख्यायिकाएँ लिखी हैं। हिन्दी में इधर गीतों की बाढ़-सी आ गई है, नहीं तो खण्ड-काव्य का चलन हमारे यहाँ भी बहुत प्राचीन है। जैसे गद्य में कहानी-द्वारा मनोरञ्जन भी होता है, शिक्षा भी मिलती है, सुधार भी होता है, वैसे ही कविता में आख्यायिका द्वारा मनोरञ्जन के साथ-साथ भावों को बड़ी उत्तेजना मिलती है। कविता-बद्ध आख्यायिका जितना रस हमारे हृदय में उत्पन्न करती है उतनी गद्य की कहानी नहीं। यदि सुन्दर घटनाएँ हैं, स्वस्थ विषय है तो इससे मन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है।

इस खण्ड में हिन्दी के सिद्धहस्त कवियों की लिखी आख्यायिकाएँ संगृहीत हैं। वीररस, करुणरस, सेवाभाव इत्यादि की मनोहर कथाएँ इस विभाग में हैं। ये कहानियाँ मनोरञ्जक तो हं ही, प्रभावोत्पादक भी हैं। एक ओर तो केशवदास की छोटे से बालक लव की वीरता है तो दूसरी ओर शुक्लजी के पथिक का अपनी पत्नी से कष्टपूर्ण मधुमिलन है; महाराणा प्रताप की रणयात्रा है, सवाईसिंह का वीरतापूर्ण व्यवहार और चूड़ावत की स्त्री का अपना शीश कर्तव्य-पथ निछावर करना है, तो उधर उद्धव का वेदनापूर्ण सन्देश, सुदामा का कृष्ण से मिलन और सुलोचना का धार्मिक चरित्र है।

ऐसी रचनाओं के पढ़ने से विद्यार्थियों की सुन्दर भावनाएँ जाग्रत होंगी जो कविता-पाठ का वास्तविक अभिप्राय होता है।

केशवदास

[सं० १६१२-१६७४]

केशवदास ओरछा नरेश के दरबारी कवि थे। ये संस्कृत के पण्डित थे। इनके समय में रस और अलंकार पर रीति-ग्रन्थ लिखने की प्रथा चल पड़ी थी। इन्होंने प्राचीन संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण करके रीति-ग्रन्थ लिखे जैसे रसिकप्रिया, कविप्रिया इत्यादि। आपका प्रबन्ध-काव्य 'रामचन्द्रिका' है जिसमें राम की कथा है। आप थे तो आचार्य किन्तु कवि-हृदय आपको नहीं मिला था। आपने बहुत कठिन शब्दों का प्रयोग किया है। एक-एक छन्द में अनेक अलंकार भरने की चेष्टा की है और संकड़ों प्रकार के छन्द लिखे हैं। आपने रामचन्द्रिका में संवाद अच्छे लिखे हैं।

यह अवतरण रामचन्द्रिका से लिया गया है। सीता निर्वासित होकर लव तथा कुश दोनों पुत्रों समेत वाल्मीकि के आश्रम में रहती है। राम ने गुरुओं से सलाह लेकर अश्वमेध के लिए घोड़ा छोड़ दिया। घोड़े के साथ सेना तथा शत्रुघ्न हैं। घोड़ा आश्रम में पहुँचता है। लव तथा कुश घोड़े के भाल पर बँधा पट्टा पढ़ते हैं और घोड़े को बाँध लेते हैं। शत्रुघ्न जानते नहीं कि ये राम के पुत्र हैं। इन्हीं लोगों में युद्ध ठन जाता है।

युद्ध का वर्णन ऐसे ढङ्ग से किया गया है मानो सामने युद्ध हो रहा है। छन्दों की अनेकता देखिए। वर्णन में कल्पना की उड़ान ऊँची है।

लव-कुश से युद्ध

(१)

विश्वामित्र वशिष्ठ स्यों एक समय रघुनाथ ।
आरंभ्यो केशव करन अश्वमेध की यात्रा ॥

(१०७)

(२)

मंथिली समेत तौ अनेक दान में दियो ।
राजसूय आदि दे अनेक यज्ञ में कियो ॥
सीय-त्याग पाप ते हिये सु हौं महा डरौं ।
और एक अश्वमेध जानकी बिना करौं ॥

(३)

धर्म कर्म कछु कीजई सफल तरुणि के साथ ।
ता बिन जो कछु कीजई निष्फल सोई नाथ ॥

(४)

करिये युत भूषण रूपरयी । मथिलेशसुता इक स्वर्णमयी ।
ऋषिराज सबे ऋषि बोलि लिये । सुचि सों सब यज्ञ-विधान किये ॥

(५)

हयशालन ते हय छोरि लियौ । शशि वर्ण सो केशव शोभरयो ॥
श्रतिश्यामल एक विराजतु है । अलि स्यों सरसीरुह लाजतु है ॥

(६)

पूजि रोचन स्वच्छ अच्छत पट्ट बांधिय भाल ।
भूषि भूषण शत्रुदूषन छोंड़ियो तेहि काल ॥
संग लै चतुरंग सैनहि शत्रु हंता साथ ।
भाति भातिन सान दे पठये सु श्री रघुनाथ ॥

(७)

जात है जित बाजि केशव जात हैं तित लोग ।
बोलि विप्रन दान बीजत यत्र तत्र सभोग ॥
बेणु बीण मूर्धंग बाजत दुंदुभी बहु भेव ।
भाति भातिन होत मंगल देव से नरदेव ॥

(८)

राघव की चतुरंग चमू चय को गनै केशव राजसमाजनि ।
सुर तुरंगन के उरभैं पण दुंग पताकनि की पट साजनि ॥

(१०८)

टूटि परें तिनतें मकुता धरणी उपमा वरणी कबिराजनि ।
बिदु किधौ मुखफेनन के किधौ राजसिरीश्रव मगललाजनि ॥

(९)

राघव की चतुरंग चमू चपि धूरि उठी जलहं थल छाई ।
मानो प्रताप हुतासन धूम सो केशवदास अकास नऽमाई ॥
मेढिकं पंच प्रभत किधौ बिधि रेणुमयी नव रीति चलाई ॥
बुःख निवेदन को भुव भार को भूमि किधौ सुरलोक सिधवाई ॥

(१०)

नाब पूरि धूरि पूरि तूरि बन चूरि गिरि,
सोखि सोखि जल भूरि भूरि थल गाथ की ।
केशोदास आसपास ठौर ठौर राखि जन,
तिनकी संपति सब अपन ही हाथ की ॥
उन्नत नवाय नत उन्नत बनाय भूप,
शत्रुन की जीविका ऽति मित्रन के साथ की ।
मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मूद्रित कै,
आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की ॥

(११)

दिसि बिदिसिन अवगाहि कं सुख ही केशवदास ।
बालमीकि के आश्रमाहि गयो तुरंग प्रकास ॥

(१२)

दूरिहि ते मुनि-बालक धाये । पूजित बाजि बिलोकन आये ।
भाल को पट्ट जहाँ लव बाँध्यो । बाँधि तुरंगम जयरस राच्यो ॥

(१३)

घोर चमू चहुँ ओर ते गाजी । कौनेहि रे यह बाँधियो बाजी ॥
बोलि उठे लव मं यहि बाँध्यो । यों कहि कं धन सायक साँध्यो ॥
भारि भगाय दियो सिगरे यों । मन्मथ के शर ज्ञान घने ज्यों ॥

(१०९)

(१४)

योद्धा भगे वीर शत्रुघ्न आये ।
कोदंड लीन्हे महारोष छाये ॥
ठाढ़ो तहाँ एक बालै बिलोक्यो ।
रोक्यो नहीं जोर नाराच मोक्यो ॥

(१५)

बालक छाँड़ि दे छाँड़ि तुरंगम ।
तोसों कहा करौ संगर सगम ॥
ऊपर बीर हियं करुणा रस ।
बीरहि बिप्र हते न कहै जस ॥

(१६)

कछु बात बड़ी न कहो मुख थोरे ।
लव सों न जूरो लवणासुर भोरे ॥
द्विज दोषन ही बल ताहि संहारयो ।
मरही जू रहो सु कहा तुम मारयो ॥

(१७)

रामबन्धु बाण तीनि छोड़ियो त्रिशूल से ।
भाल से विशाल ताहि लागिओ ते फूल से ॥
घात कीन्ह राज तात गात ते कि पूजियो ।
कौन शत्रु तू हत्यो जु नाम शत्रुहा लियो ॥

(१८)

रोष करि बाण बहु भाँति लव छंडियो ।
एक ध्वज, सूत युग, तीन रथ खंडियो ॥
शस्त्र दशरथमुत अस्त्र कर जो धरं ।
ताहि सियपुत्र तिल तूलसम खंडरं ॥

(१९)

रिपुहा तब बाण बहै कर लीन्हो ।
लवणासुर को रघुनंदन दीन्हो ॥

(११०)

लव के उर में उरभूयो वह पत्नी ।
मुरझाय गिरघौ घरणी महें छत्री ॥

(२०)

माहे लव भूमि परे जबहीं । जै दुंदुभी बाजि उठे तबहीं ।
भू ते रथ ऊपर आनि धरे । शत्रुघ्न सु यों करुणाहि भरे ॥

(२१)

घोड़ो तबही तिन छोरि लयो । शत्रुघ्नहि आनंद चित्त भयो ॥
लंके लव को ते चले जबहीं । सीता पहुँ बाल गये तबहीं ॥

(२२)

मुनु मैथिली नृप एक को लव बांधियो बर बाजि ।
चतुरंग सेन भगाइ कै सब जीतियो वह आजि ॥
उर लागि गो शर एक को भुव म गिरो मुरझाय ।
तब बाजि लं लव लं चल्यो नृप दुंदुभीन बजाय ॥

(२३)

सीता गीता पुत्र की मुनिकैं भई अचेत ।
मनो चित्र की पुत्रिका मन क्रम वचन समेत ॥

(२४)

रिपुहाथ श्रीरघुनाथ को मुत क्यों परै करतार ।
पतिदेवता सब काल तौ लव जी उठ यह बार ॥
ऋषि हें नहीं कुश हें नहीं लव लेइ कौन छड़ाय ।
बन माँझ टेर सुनी जहीं कुश आइयो अकुलाय ॥

(२५)

रिपुहि मारि संहारि दल यम तं लेहुँ छड़ाय ।
लवहि मिलैहौ देखिहौ माता तेरे पाय ॥

(२६)

गाहियो सिंधु सरोवर सो जेहि बालि बली बर सो बर पेर्यो ।
ढाहि बिये सिर रावन के गिरि से गुरु जात न जातन हेर्यो ॥

(१११)

शाल समूल उखारि लियं लवणासुर, पीछे ते आय सो टेरयो ।
राघव को दल मत्त करीदवर अंकुश दै कुश केशव फेरयो ॥

(२७)

कुश की टेर सुनी जहीं फूल फिरे शत्रुघ्न ।
दीप विलोकि पतंग ज्यों यदपि भयो बहु बिघ्न ॥

(२८)

रघुनन्दन को अबलोकत ही कुश ।
उर माँझ हयो शर शुद्ध निरंकुश ॥
ते गिरे रथ ऊपर लागत ही शर ।
गिरि ऊपर ज्यों गजराज कलेवर ॥

(२९)

जूझि गिरे जबही अरिहा रन । भाजि गये तबही भट के गन ॥
काढ़ि लियो जबही लव को शर । कण्ठ लम्यो तबही उठि सोदर ॥

(३०)

मिले जु कुश लव कुशल सों बाजि बाँधि तस्मूल ।
रण माँह ठाढ़े शोभिजँ पशुपति गणपति तुल ॥

—

नरोत्तमदास

नरोत्तमदास मीतापुर जिले के बाड़ी ग्राम के रहनेवाले थे । इनके जन्म-मरण के सम्बन्ध में कुछ मालूम नहीं है । इनका 'सुदामाचरित्र' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें अपने सहपाठी श्रीकृष्ण के यहाँ सुदामा के जाने और फिर इन्हें भगवान् के वैभव प्रदान करने का वर्णन है । इनकी रचना सरल परिमार्जित ब्रजभाषा में है । इन्होंने दरिद्रता का बड़ा सजीव वर्णन किया है ।

यह अवतरण 'सुदामाचरित्र' से लिया गया है । अपनी स्त्री के बार-बार कहने से सुदामा द्वारका जाते हैं । वहाँ का वैभव देखकर वे घबरा जाते हैं । श्रीकृष्ण

के महल में जाकर द्वारपाल से सँदेशा कहलाते हैं। द्वारपाल जाकर भीतर बताता है।

इसमें मित्रता की मर्यादा का बहुत सुन्दर निर्वाह किया गया है। वर्णन में मनुष्य की मनोवृत्ति का सज्जव चित्रण है।

सुदामाचरित्र

दीठि चकचौंधि गई बेखत सुबर्नमई,
 एक ते सरस एक द्वारिका के भौन हैं।
 पूछे बिन कोऊ कहूँ काहूँ सों न करे बात,
 देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं ॥
 देखत सुदामै धाय पौरजन गहे पाय,
 “कृपा करि कहौ विप्र कहाँ कीन्हों गौन हैं।”
 “धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
 बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं” ॥

सीस पगा न भगा तन में, प्रभु ? जाने को आहि बसं केहि ग्रामा।
 धोती फटी-सी लटी दुपटी, अरु पाँय उपाहन की नहि सामा ॥
 द्वार खड़ो द्विज दुबल देखि, रहो चकि-सो बसुधा अभिरामा।
 पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ॥

बोल्थो द्वारपालक ‘सुदामा नाम पाँडे’ सुनि,
 छाँडे राज-काज ऐसे जी की गति जाने को ?
 द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
 भेटे लपटाय करि ऐसे दुख साने को ?
 नैन दोऊ जल भरि पूँछत कुसल हरि,
 विप्र बोल्थो “बिपदा में मोहि पहिचाने को ?
 जैसी तुम कीन्हों तैसी करे को कृपा के सिन्धु;
 ऐसी प्रीति दीनबन्धु ! दीनन सों माने को” ?

ऐसे बेहाल बेबाइन सों पग, कंदक-जाल लगे पुनि जोये ।
 “हाय ! महादुख पायो सखा ! तुम आये इतैन कितै दिन खोये” ॥
 देखि सुदाना की दीन दसा, कसना करिकै कसनानधि रोये ।
 पानी परात को हाथ उयो, नहि नैनन के जल सों पग धोये ॥

काँपि उठी कलला मन सोधत, मोक्षों कहा हरि को मन ओँको ?
 ऋद्धि कँपी सब सिद्धि कँपी, नव निद्धि कँपी बम्हना यह धौँ को ॥
 सोच भयो गुरनायक के जब दूसरी बार लियो भरि भौँको ।
 मेरु डरयो “बकसै जनि मोहि” कुवेर चबावत चाउर चौँको ॥

भौन भरे पकवान मिठाइन, लोग कहै निधि हे सुषमा के ।
 साँभ सबेरे चितै अभिलाषत; दाख न चाखत सिधु रमा के ॥
 बाँभन एक कोऊ दुखिया सेर-पावक चाउर लायो समा के ।
 प्रीति की रीति कहा कहिए, तेहि बैठि चबात है कन्त रमा के ॥

हाथ गहचो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमनै चित धारी ।
 तंदुल खाप मुठी दुइ, दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी ॥
 खाइ मुठी तिसरी अब नाथ ! कहाँ निज बास की आस बिचारी ।
 रंकहि आप समान कियो तुम, चाहत आपहि होन भिखारी ॥

धन्य कहा कहिए द्विज जू तुम सों जग कौन उदार प्रवीनो ।
 पाछिली प्रीति निबाही भली बिधि, दोष निवारि कै रोष न कीनो ॥
 हौं द्विज के चरनोदक हेतु, अजन्म कहाय कै जन्म सु लीनो ।
 आवन कै निज पावन सों यहाँ भों सो अपावन पावन कीनो ॥

धैसई राज-समाज वेई, गज बाजि धने मन संत्रम छायो ।
 “कैधों परयो कहूँ मारग भूलिकै, कै अब फेरि हौं द्वारिकै आयो” ॥
 भौन बिलोकिये को मग लोचन सींचत ही सब गांव मझायो ।
 भूछि भे पाँड़े कथा सब सों, फिरि भोपरि को कहूँ सोधु न पायो ॥

टूटी-सी मड़ैया मेरी परी हूती याही ठौर,
 तामें परो दुःख-काँटो कहाँ हेम-धाम री ।

जेवर जराऊ तुम साजे प्रति अङ्ग-अङ्ग,
सखी सोहे सङ्ग वह छूछी हुती छाम री ॥
तुम तो पटंबर री ओढ़े हौ किनारीदारी,
सारी जरतारी वह ओढ़े कारी कामरी ।
मेरी वा पँड़ाइन तिहारी अनुसार ही पै,
बिपदा-सताई वह पाई कहाँ पामरी ॥
कै वह टूटी-सी छानी हुती, कहँ कञ्चन के सब धाम सुहावत ।
कै पग में पनही न हुती, कहँ लै गजराजहु ठाढ़े महावत ॥
भूमि कठोर पै रात कटे, कहँ कोमल सेज पै नींद न आवत ।
कै जुरतो नहीं कोबो सर्वाँ, प्रभु के परताप तँ दाख न भावत ॥

किशोरीलाल गोस्वामी

[सं० १९२२-१९८९]

गोस्वामीजी काशी में पैदा हुए । आपके घराने में पठन-पाठन की पुरानी परि-
पाटी थी । घर पर ही आपने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू आदि का अभ्यास किया । आपने
कहानी, उपन्यास, कविता, सभी विषयों की पुस्तकें लिखी हैं । आप ब्रजभाषा में
कविता करते थे । आपकी भाषा सरल तथा सरस होती थी ।

हमारे पुराणों में कथा है कि सूर्यवंश के कर्मवीर महाराज भगीरथ
अपने पुरखा राजा सगर के सब पुत्रों को तारने के लिए बड़ा तप करके
स्वर्ग से पृथ्वी पर गङ्गा जी को लाये । गङ्गा जब पृथ्वी पर आने लगीं तब
आकाशवाणी हुई कि सब लोग सँभल जाओ । गङ्गा की शक्ति को
कौन सँभाल सकता था ? सारे व्योम में आकाशवाणी फैल गई

तब शंकर भगवान् अपने जटा-जूट में गङ्गा को ले लेने के लिए कैलाश पर खड़े हुए गये । यहीं इस काव्य का विषय है । वर्णन में ओज है क्या सजीव ढङ्ग से कही गई है । शैली चित्ताकर्षक है ।

मङ्गावतरण

“तरलित तुमुल तरङ्गवती । सुरधुनी सुशीला ।
करत पुनीत व्योमपथ उत्तरति हं कार लीला ॥
सावधान दिक्कुञ्जर धरा ! तूह सुधि इति दं ।
रे फनीस ! पर याहि कमट ! ताही मधि चित दं ॥
हैमवती यह बहिन उम । की परम पुनीता ।
आवत पाप-पुञ्ज-जन सुगति देन मनचीता ॥
हटौ, बचो रे गगनविहारी ! मरग छोरो ।
नतकन्धर सों विनय सहित तून हूँ तून तोरो ॥
भानुवस अवतंस महाभागवत भगीरथ ।
कियो नाम तूह ने या छिति पै सुभ तीरथ ॥
अब राजर्षि ! तपस्या तेरी यह फल लाई ।
सजग होहु शिव !” गगन गिरा यों भाषि थिराई ॥
जह लगि हो अवकाश व्योमभारती समोई ।
बढ़ी प्रतिध्वनि आघात प्रतिघात बिलोई ॥
इगमगान दिक्कुञ्जर, धरनी डोलन लागी ।
शेष सगमगाने, कच्छप की शिरता भागी ॥
देवासुर नर नाग चराचर सरकि सकाने ।
जलचर थलचर नभचर कम्पित-गात वृपाने ॥
पाइ बिपुल अवकाश आज आकाश शब्दमय ।
कियो नाम निज सत्य भाषि “शङ्के ! जय जय जय ! !”
कोटि भानु मति मयं खवं करि धाई गङ्गा ।
पितृगोह तजि व्योमधीति मधि आई गङ्गा ॥
ठठकि एक छिन मयन मध्य मुसकाई गङ्गा ।
चितं शम्भु निज मति की बात सुनाई गङ्गा ॥

“हे हे भाम ! भवानीपति ! मम बेग न जमनहु ।
 क्यों बरबस मम भार सहन को तुम हठ ठानहु ॥
 सहित तुमहि कैलाश भेदि पाताल सिधेहों ।
 निज छोटी भगिनी को तब मुख कहा दिखेहों ॥
 या बावरे भगीरथ की मति पै तुम भूले ।
 मसक होइ नम गहन चले देवहि प्रतिकूले ॥
 अस्तु, होहु तुम सजग” ; भाषि या अहिमिति बानी ।
 नभमण्डल तं वेगहि धाई, चित्त भवानी ॥
 गुनत व्यङ्गमय अहिमिति वचन विषम-लोचन यों ।
 तमिक उठं रिस घोर मूर्ति धरि कोपपुञ्ज ज्यों ॥
 चौपि पगन कैलास रौद्रवपु कटि कर दीन्हें ।
 पृष्ठभाग में जुगुल करन निज शूलहि लीन्हें ॥
 फटफटाइ निज जटा तिहूँ लोचन रिस बोरे ।
 ज्वाल-माला-भीषन आसन ओप अयोरे ॥
 करि ऊंचे मस्तक गङ्गा बिसि नैन तरेरे ।
 बाकी वेगबती तरलित अति हूँ की हेरे ॥
 अभिमानिनि के सर्व खर्व करिबे हित ठाढ़े ।
 मूर्तिमन्त रस रौद्र मनहुँ छिन छिन प्रति बाढ़े ॥
 विनय सहित ठाढ़े हूँ रक्षा चितव शम्भु बिसि ।
 अति सकात निज हृदय मध्य लखि अङ्कुर की बिसि ॥
 कबहुँ कबहुँ मङ्गा की बिसि हूँ पै दम फेरत ।
 पुनि तामस अषिदेवहु की मानस-मति हेरत ॥
 नन्दी हूँ करि कोप ठड़ी चितवत शिव पार्हीं ।
 मनहुँ आज बाहू के रिस की सीमा नहीं ॥
 पारवती बै ठेस पीठ नन्दी की ठाढ़ी ।
 चितवत गङ्गा बिसि धरकृति छाती अति बढी ॥
 मनहुँ वेग धारा में निज गति पुञ्ज मिलावति ।
 बायुवेग प्रति छिन पाछे करि उतरति आवति ॥

मुदित नैन, सिथिलित सुअङ्ग, बर बलित बसन तन ।
 खलित केस, अति ललित छटा छिटकति चहूँ प्रतिछिन ॥
 वह धावति आवति मुनि जन-मानस हरषावत ।
 कै वाकी दिसि यह भूगोल गेद सो धावत ॥
 कोटि कोटि धननादनि सों करि यह दिग कम्पित ।
 गिरी शम्भु की जटा मध्य गङ्गा करि भ्रम्पित ॥
 घूमन लागी जटाजूट धनगहन मध्य बह ।
 चकित गवं करि सर्व सकुच तन चसक नव्य यह ॥
 थरथराइ मन में सकाड सिर नाय सोच तें ।
 बिनवन लागी शिवाहि शैलबाला सकोच तें ॥
 इत राजर्षि भगीरथ हे बिनती अति कीन्हीं ।
 तब तजि कोप सम्भु गङ्गा की धारा दीन्हीं ॥
 दिव्य सुरथ पै चढ़े भगीरथ आगे धाये ।
 पाछे भागीरथी चली चित चोप चढ़ाये ॥
 यर्जति उफनति भूमति हहहरात तट तोरति ।
 अनगिनतिन जनपद पद धौत करति छिति बोरति ॥
 जन्हु ऋषी के आश्रम कों जलप्लावन कीन्हीं ।
 तब मुनि रिसि करि गङ्गाधार सारी पी लीन्हीं ॥
 पै जब बहुरि करी बिनती राजा कर जोरे ।
 तब जाह्नवी धार काननि ते बन्दुहि छोरे ॥
 मिली धार वा सगर-सुवन की राख बहाई ।
 सागर सों मुरि कपिल मुनी के पय सिर नाई ॥
 ब्रह्मशाप ते छूट बये सुर-धाम सगरसुत ।
 बय बंये जय बंये यों कहि-कहि तेहि दिनवत ॥

रामचन्द्र शुक्ल

[सं० १९४१—१९९७]

शुक्लजी का जन्म बस्ती जिले के अगोना गाँव में हुआ था, शिक्षा मिर्जापुर में हुई थी और कायंक्षेत्र काशी था। आप सस्कृत, हिन्दी तथा अँगरेज़ी के विद्वान् थे। आप 'हिन्दी-शब्दसागर' के सम्पादकों में थे। हिन्दू-विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक और अन्त में अध्यक्ष हुए। आपन हिन्दी में आलोचना की वैज्ञानिक शैली आरम्भ की। आपकी आलोचना बड़ी विवेचनापूर्ण होती थी। आपका लिखा 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' बेजोड़ है। आप व्रजभाषा के बड़े सुन्दर कवि भी थे। बड़ी सरस और परिमाजित भाषा लिखते थे।

यहाँ दी हुई कविता में एक बहुत मार्मिक कथा है। मन्मथ गाँव का विक्रमसिंह अपनी पत्नी को छोड़कर सेना में चला गया। बहुत दिनों तक सेना के साथ वह संसार के अनेक स्थानों में घूमता रहा। अन्त में वह एक जाड़े की सन्ध्या में ठोढ़ता है किन्तु जानता नहीं कि कहाँ जा रहा है। उसकी स्त्री बाट जोहते-जोहते चिराख हो गई थी। संयोग से वह उसी घर में छिपी से रक्षा करने को रात बिताने के लिए आता है। इस कथा का अन्त बड़ा हृदयस्पर्शी है। सारी कथा में कल्याण का स्रोत बह रहा है।

शिशिर-पथिक

विकल पीड़ित पीय-पयान ते चहुँ रह्यो नलिनी-बलघोरि जो,
भुजन भेंटि तिन्ह अनुराग सा गमन-उद्यत भानु लखात हैं।
तजि तुरन्त चले, मुख फेरि कं शिशिर-शीत-सशङ्कित जीबहीं,
बिह्वल अमल बब पुकाखे रहि गये पर ताहि सुनी नदीं।

तनि गये सित ओस-वितान हूँ अनिल भार बहार धरा परी,
 लुकन लोग लगे घर बीच हूँ बिबर भीतर कीट-पतङ्ग-से।
 युग-भुजा उर बीच समेटि के लखहु आवत गंयन फेरि कैं,
 कँपत कम्बल बीच अहीर हूँ, भरमि भूल मई सब तान हूँ।
 तम भयङ्कुर कारिख फेरि कैं प्रकृति दृश्य कियो धुंधलो सबै,
 बनि गये अब शीत प्रताप ते निपट निर्जन घाटऽरु बाट हूँ।
 पर चलो वह आवत है, लखो, विकट कौन हठी ठह ठानि कैं !
 चुप रहें तब लौं जब लौं कोऊ सुजन पूछनहार मिले नहीं,
 शिथिल गात, महा गति मन्द हूँ, चहुँ निहारत धाम विराम को।
 उठत धूम लख्यो कछु दूर पै, करत स्वान जहाँ रव घोर हूँ।
 कँपत आइ भयो छिन में खड़ो, युग कपाट लगे इक द्वार पै,
 सुनि परचो “तुम कौन !” कह्यो तबै “पथिक दीन दया इक चाहतो।”
 खुलि गये भट द्वार धड़क से, धुनि परी मधुरी यह कान में,
 “निकसि आइ बसो यहि गेह में, पथिक वेगि सँकोच विहाय कैं।
 पग धरो जब भीतर भौन के, अतिथि आवन आयसु पाइ कैं,
 कठिन शीत प्रताप-निवारिणी अनल दीर्घ-शिक्षा जहँ फँकती।
 चपल दीठि चहूँ दिशि जाइके पथिक की पहुँचो एक कोन में,
 वय-पराजित जीवन जंग में, दिन गिनै नर एक परो जहाँ।
 सिर-समीप सुता मन मारि कैं, पिताह सेवति सील सनेह सों,
 तहँ खड़ी नत-गात, कृशाङ्गिनी, लसति वारि-विहीन मृणाल-सो।
 लखि फिरी दिसि आवनहार के विमल आसन इङ्गित सों बियो,
 अतिथि बैठि असीस दियो तबै “फलवती सिमरी तुव आस हो !”
 मृदु हँसी करुणा एक संग ही तरुनि आनन ऊपर धारि कैं,
 कहति “हाय पथी ! सुनु बावरे न तरु नीरस मे फल लागई।
 मति लखी विधि की जब वाम में, जगत के सुख सों मुख मोरि कैं,
 पितु-निवेश निबाहन औ सदा अतिथि-सेवन को व्रत में लियो।
 अब कहो निज नाम, चले कहाँ ? कहहु आवत हौ कित तै इतै ?
 विचलि कैं चित के किहि वेग सों, पग धरचो पथ-नीर अधीर हूँ ?

अखिल आस अमी-रस सींच के सतत राखति जो तन-बेलि हों
 पथिक ! बैठि अरे तुव बाट को युवति जोवति है कतहूँ कोऊ ?
 नयन कोउ निरन्तर पावहीं तुमहि हेरन को पथ बीच में ?
 भवण-बाट कोऊ रहते खुले कहूँ अरे, तुम आहुट लेन कों ?
 कहूँ कहूँ तोहि आवत जानि के निकटता तुव प्रेम प्रदायिनी,
 प्रथम पावन हेतुहि होत है चरन-लोचन-बीच बदाबदी ?”
 बबि गयो उन बैननि भार सों पथिक दीन मलीन थको भयो,
 अचल मूर्ति बन्यो पल एक लौं, सब क्रिया तग की, मन की रुकी ।
 बदन पौरुष-हीन बिलोकि के, नयन नीरन उत्तर दं दियो,
 “तव यथार्थ सब अनुमान ए अति अलौकिक देवि दयामयी ।”
 अचल नैननि लाय निहारते पथिक कों अपनी दिसि देखि के,
 इमि लगी कहने फिर कामिनी, अति पवित्र दया-व्रत-धारिणी ।
 “कुशलता न अहै यहि मैं कहूँ, अरु न विस्मय की कछु बात है,
 दिवस जो दुख की दिसि खेवहीं गति लखे मग में उलटी सब ।”
 उभय मौन रहे कछु काल लौं पथिक ऊपर दीठि उठाय के,
 इक उसास भरी गहरी जबें, यह कढ़ी मुख तें बचनावली;
 “अवनि ऊपर देश-विदेश में दिवस घूमत ही सिंगरे गये,
 मिसिर, काबुल, चीन, हिरात की चरण धूरि रही लिपटाइ है ।
 पर-दशा-दिशि-मानस योगिनी लखि परी इकली भुवि बीच तू !
 यह विशेष विचारि सुनावहूँ सुतनु ! मो तनु पं जु व्यथा परी ।
 मन परें दुख की जब वा घरी, पलटि जीवन जो जग में दियो,
 चतुर ‘मेजर’ के बस हूँ अहो जब कियो अपनी, सपनो सब ।
 हित-समेह-सने मूढ बोल सों खब लियो इन कानन फेरि में,
 स्वजन और स्वदेश स्वरूप कों, कर दयो इस आँखिन ओट हा !
 अब परें सुनि वाक्य यही हमें ‘घरहु, मारहु सीस उतारहु !”
 दिवस रैन रहे सिर पं खरी अति कराल छुरी अफगान की ।
 पथिक हों, यह आश हिये धरे मम वियोगिनि भासिनि कों अबौ,
 अपर लोक प्रयाण प्रयास तें, मम समायम्य संसय रोकिहूँ ।

कहूँ यहाँ इक मन्मथ गाँव है, जहाँ धनी बसती बिधु-वंश की,
तहाँ रहे इक विक्रमसिंह जो सुवन तासु यही रनवीर है”।
कहत ही इन बँसन के तहाँ, मचि गयो कछु औरहि रङ्ग ही,
बदन अञ्चल-बीच छिपावती, वह परी गिरि भूतल भामिनी।
असम साहस वृद्ध कियो तबे, उठि धरचो महि में पग खाट तें,
“पुनि कहौ” कहि बारहि बार ही, पथिक कों फिरि फेरि निहारई।

आशा त्यागी बहु दिनन की नेकु ही में पुरावें
लीला ऐसी जगत-प्रभुकी; भेद कों कौन पावें ?
देखो नारी सुकृत-फल कों बीच ही माँहि पायो;
भूलो प्यारो निज प्रियतमा-पास आयो मुहायो !

रत्नाकर

[१९२३-१९८९]

जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ का जन्म काशी में ऊँचे वैश्य घराने में हुआ था। ये फ़ारसी, हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। ये बी० ए० थे। ये बहुत दिनों तक महारानी अयोध्या के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। ये ब्रजभाषा में कविता करते थे। इनकी भाषा बहुत ही प्राञ्जल, सुव्यवस्थित और शुद्ध होती थी। ये ब्रजभाषा के अन्तिम महान् कवि हो गये हैं। इन्होंने बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं जिनका संग्रह ‘रत्नाकर’ नाम से प्रकाशित हुआ है। इनकी रचना में ओज भी बहुत है। इनकी कविता अनुप्रास और यमक से अलंकृत है।

आपकी एक रचना ‘उद्धवशतक’ है। श्रीकृष्ण जब मथुरा चले गये थे और उनके प्रेम में ब्रज-निवासी व्याकुल थे तब श्रीकृष्ण ने उद्धव को गोकुल का हाल-चाल लेने को भेजा। यहाँ उद्धव आये और सबसे बातें हुईं। फिर आप मथुरा लौट रहे हैं। जिस कठिनाई से आप चले और जिस अवस्था में मथुरा छोटे उसी प्रसङ्ग के ये छन्द हैं।

वर्णन बहुत मार्मिक, कण्ठरसपूर्ण है। छन्दों में प्रवाह है। शोक में व्रज के पेड़-पौदे भी गोपियों से आत्मभावापन्न हो गये हैं। पद-योजना बड़ी मधुर है। कल्पना दुरूह नहीं है।

उद्धव का मथुरा लौटना

घाईं जित-तित तें बिदाई-हेत ऊधव की
 गोपी भरी आरति संभारति न साँसुरी ।
 कहें रतनाकर मयूर-मच्छ कोऊ लिय
 कोऊ गुञ्ज-अञ्जुली उमाहें प्रम-आँसुरी ॥
 भाव-भरी कोऊ लिये रुचिर सजाव दही
 कोऊ मही मञ्जु दाबि दलकति पाँसुरी ।
 पीत पट नन्द जसुमति नवनीत नयौ
 कीरति-कुमारी मुरवारी दई बाँसुरी ॥ १ ॥

कोऊ जोरि हाथ कोऊ नाइ नम्रता सौं माथ
 भाषन की लाख लालसा सौं नहिं जात हैं ।
 कहें रतनाकर चलत उठि ऊधव के
 कातर ह्वैं प्रेम सौं सकल महि जात हैं ॥
 सबद न पावत सो भाव उमगावत जो
 ताकि-ताकि आनन ठगे से ठहि जात हैं ।
 रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ
 रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं ॥ २ ॥

कोऊ चले काँपि संग कोऊ उर चाँपि चले
 कोऊ चले कछुक अलापि हलबल से ।
 कहें रतनाकर मुदेस तजि कोऊ चले
 कोऊ चले कहुत सँदेस अविरल से ॥

आस चले काहू के सु काहू के उसास चले
 काहू के हिये पै चन्दहास चले हल से ।
 ऊधव के चलत चलाचल चली यौ चल
 अचल चले औ अचले हू भये चल से ॥ ३ ॥

गोपी, ग्वाल, नन्द, जसुदा सौं ती बिदा ह्वं उठे
 उठत न पाय पै उठायत डगत हैं ।
 कहं रतनाकर संभारि समरथी पै नीति
 दीठिनि बचाइ चली चोर ज्यों भगत हैं ॥
 कुञ्जनि की कूल की कलिव्दी की रुएँ दी दसा
 देखि-देखि आस औ उसास उमगत हैं ।
 रथ तें उतरि पथ पावन जहाँ हीं तहाँ
 बिकल बिसूरि घूरि लोटन लगत हैं ॥ ४ ॥

चल-चित-पारद की दम्भ-कञ्चुली के दूरि
 ब्रज-मग-धूरि प्रेम-मूरि सुभ-सीली लै ।
 कहं रतनाकर सु जोगनि बिधान भावि
 अमित प्रमान ज्ञान-गन्धक गुनीली लै ॥
 जारि घट-अन्तर हीं आह-धूम वारि सबे
 गोपी बिरहागिनि निरन्तर जगीली लै ।
 आये लौटि ऊधव विभूति भइय भायनि की
 कायनि की रुचिर रसायन रसीली लै ॥ ५ ॥

आये लौटि लज्जित नवाये नैन ऊधौ अब
 सब मुख-साधन कौ सुधौ सौ जतन लै ।
 कहं रतनाकर गँवाये गुन गौरव औ
 गरब-नाढ़ी कौ परिपूरन पतन लै ॥
 छाये नैन नीर पीर-कसक कमाये उर
 दीनता अधीनता के भार सौं नतन लै ।
 प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमड़ी में पूरि
 ज्ञान-गूदड़ी में अनुराग सौं रतन लै ॥ ६ ॥

आये दीरि पीरि लौं अवाई सुनि ऊधव की
 और ही बिलोकि दसा दृग भरि लेत हैं।
 कहं रतनाकर बिलोकि बिलखात ; उन्हें
 येऊ कर कांपत करेजें वरि लेत हैं ॥
 आवति कछूकि पूछिबे औ कहिबे की मन
 परत न साहस पै दोऊ वरि लेत हैं।
 आनन उदास सांस भरि उकसौहें करि
 सौहें करि नैननि निचौहें करि लेत हैं ॥ ७ ॥

प्रेम-मद-छाके पग परत कहां के कहां
 थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।
 कहं रतनाकर यौ आवत चकात ऊघी
 मानौ सुधियात कोऊ भावना भुलाई है ॥
 धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं
 सारत बॅहोलिनि जो आंस-अधिकाई है।
 एक कर राजें नवनीत जमुदा की दियो
 एक कर बंसी बर राधिका-पठाई है ॥ ८ ॥

ब्रज रजरंजित सरीर सुर ऊधव की
 घाइ बलबीर ह्वैं अघोर लपटाये लेत।
 कहं रतनाकर सु प्रेम-मद-माते हेरि
 धरकति बांह थामि थहरि थिराये लेत ॥
 कीरति-कुमारी के दरस-रस सद्य ही की
 छलकनि चाहि पलकनि पुलकाये लेत।
 परन न देत एक बूँद पुहुमी की कौंछि
 पोंछि-पोंछि पट निज नैननि लगाये लेत ॥ ९ ॥

आंसुनि की धार औ उभार कौं उसांसनि के
 तार हिचकीनि से तनिक टरि लेन देहु।
 कहं रतनाकर फुरन देहु बात रंच
 भावनि के विषम प्रपंच सरि लेन देहु ॥

आतुर हूँ और हूँ न कातर बनावी नाथ
 नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु ।
 कहत अबे हूँ कहि आवत जहाँ लौं सबे
 नैकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु ॥ १० ॥

रावरे पठाये जोग देन कौं सिषाये हुते
 ज्ञान गुन गौरव के अति उदगार में ।
 कहै रतनाकर पं चातुरी हमारी सबे
 कित धौं हिरानी रसा दाहन अपार में ॥
 उड़ि उधिरानी किधौं ऊरघ उसासनि में
 बहि धौं बिलानी कहूँ आंसुनि की धार में ।
 चूर हूँ गई धौं भूरि दुख के दरेरनि में
 छार हूँ गई धौं बिरहानल की झार में ॥ ११ ॥

ज्वालामुखी गिरि तें गिरत द्रवे द्रव्य कंधों
 बारिद पियौ है बारि बिष के सिवाने में ।
 कहै रतनाकर कं काली दांव लेन-काज
 फेन फुफकारें उहि गांव दुख-साने में ॥
 जीवन वियोगिनि कौं भेघ अँचयो सो किधौं
 उपच्यौ पच्यौ न उर ताप अधिकाने में ।
 हरि-हरि जासौं बरि-बरि सब बारी उठें
 जानें कौन बारि बरसत बरसाने में ॥ १२ ॥

जैहूँ व्यथा विषय बिलाइ तुम्हें देखत हौं
 तातें कही मेरी कहूँ झूठि ठहरावौ ना ।
 कहै रतनाकर न याही भय भायें भूरि
 याही कहै जावौ बस बिलंब लगावौ ना ॥
 एतौ और करत निबेदन स-बेदन हें
 ताकौ कछु बिलग उदार उर ल्यावौ ना ।
 तब हम जानें तुम धीरज-धुरीन जब
 एक बार ऊँची बनि जाइ पुनि जावौ ना ॥ १३ ॥

- छावते कुटीर कहँ रम्य जमुना कै तीर
 गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं ।
 कहँ रतनाकर बिहाइ प्रेम-गाथा गूढ़
 खौन रसना म रस और भरते नहीं ॥
 गोपी ग्वाल बालन के उमड़त आँसू देखि
 लेखि प्रलयागम हँ नैकु डरते नहीं ।
- होतौ चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ
 तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं ॥ १४ ॥

मिलिन्द

मिलिन्दजी का पूरा नाम नत्थाप्रसाद दीक्षित 'मिलिन्द' है। आप कानपुर-निवासी हैं। आपने खड़ी बोली में कवित्त-शैली को अपनाया है। आपकी रचना में ओज तथा प्रसाद गुण की प्रधानता है।

सुलोचना रावण के पुत्र मेघनाथ की स्त्री थी। राम-रावण-युद्ध में मेघनाथ का वध हुआ। प्राचीन आर्य-प्रथा के अनुसार सुलोचना मेघनाथ के शव के साथ सती हो गई। इसी कथा का वर्णन इन कवित्तों में है। मिलिन्दजी के कवित्त बड़े मँजे हुए हैं। खड़ी बोली में भी ब्रजभाषा की पदावली का आनन्द आता है। भाषा सुव्यवस्थित है। रचना में प्रवाह है।

सती सुलोचना

(१)

श्वास की अहनिश समीर शीत उष्ण द्वारा,
 पथों का पराग सानुराग ले लगाती है ।
 सन्ध्या की, उषा की साड़ियों से नये साज साजे,
 किरणावली से दिव्य छति दरसाती है ।

(१२७)

फेर फेर फेन का "मिलिन्द" श्वेत अंचल त्यों,
सिन्धु का विलोकनीय नीर लहराती है।
मानों रीति छवि पै, प्रकृति हो भगन मन,
प्रीतम गगन को ले आरसी दिखाती है॥

(२)

प्याला हेम का है नीलमों की जड़ी चौकी पै, या,
भानुजा में शतपत्र पंकजों की माला है।
अथवा उमंडित सजल नीले नीरदों में,
होकर अचंचल विराजी बिज्जु-बाला है।
पीत पट किवा अंग श्याम के सुशोभित या,
पुष्प अतसी पै स्वर्ण-कीट मतवाला है।
शीश पै नदीश के पुरी है दशशीश की या,
नीले व्योम-मध्य रजनीश का उजाला है॥

(३)

छल्लों से जटित राजमहल खड़े हैं या कि,
अरुण पलाश-राशि फूली आस-पास है।
चारों ओर सुख का समीर डोलता है नित्य,
बीरता सरस फेंकी यश की सुवास है।
हेम के कंगूरे मानो मंजरी रसाल की हैं,
मदन महीपति यहाँ का बना दास है।
मुदित पिकी-सी प्रमदाएँ कूकती हैं मञ्जु,
रावण-पुरी है, या वसन्त का विकास है॥

(४)

मंगल-कलश महलों पै स्वर्ण-मण्डित हैं,
जिन पै समुन्नत ध्वजाएँ रहीं राज हैं।
रक्षा करने के लिए द्वारों पै नियुक्त जहाँ,
साज है सुरों के, असुरों के भी माज है।

(१२८)

मन्दिर महान इन्द्रजीत का विचित्र अति,
रावणपुरी के यों अनोखे ठाट आज हैं।
अलका सशंकित है जिसकी महत्ता देख,
सत्ता देख लज्जित, भ्रमित देवराज हैं॥

(९)

“पतिदेव आज हैं हमारे समराङ्गण में,
युद्ध में विनाश का अपार घन है घिरा।
जीत चुके इन्द्र को प्रतीति है हिये में तो भी,
आज क्यों ? न जाने यों सज्जन ! चित्त है फिरा।”
पूछती थी विकल सखी से बार-बार इसि,
सुमुखि मुलोचना समीता भ्रान्त अस्थिरा।
सहसा वहीं पे बाण-विद्ध रक्त-रंजिताभ,
आकर प्रबल कर मेघनाद का गिरा॥

(६)

व्यर्थ-सा हुआ है विश्व आज अवला के लिए,
पार करने को लोक-सागर अपार है।
जीवन-तरणि डगमग डोलती है मेरी,
छा रहा निराशा का अभेद्य अन्धकार है।
देव के प्रकोप की तरंगें उठतीं अनेक,
भय के प्रबल भङ्गावात का प्रहार है।
आज मभ्रधार में अकेली मैं पड़ी हूँ नाथ,
आपकी भुजा ही एक मेरी पतवार है॥

(७)

पति की भुजा को उठा अपने करों से फिर,
आके युद्ध-भूमि में विलाप करने लगी।
मस्तक झुकाके रघुनाथ के पदाम्बुजों में,
शोक-उर-अन्तर अमाप करने लगी।

(१२९)

बोली "हे दया के सिन्धु ! " निष्ठुर बने क्यों आज
बावली-सी व्याकुल प्रलाप करने लगी ।
"छीन क्यों ? लिया हे देव ! मुझसे मुहाग मेरा,
में थी कौन ऐसा महापाप करने लगी" ? ॥

(८)

सजल विलोचन हो बोले शोकमोचन यों,
"तू कहे मुलोचने तो इसको जिला दूं मैं ।
मृतक पड़ा है छिन्न-भिन्न जो रणस्थल में,
उसको सुपद अमरत्व का दिला दूं मैं ।
रहता सदैव वशीभूत भक्तजन के में,
तेरा मुरझाया भाग्य-कमल खिला दूं मैं ।
शान्ति-सुख ला दूं फिर तेरे दुखी जीवन में,
तुझ-सी सती को तेरे पति से मिला दूं मैं" ॥

(९)

किन्तु जब शीश ने न स्वीकृति प्रकट की तो,
शीघ्र ही मुलोचना ने मोहू बिसरा दिया ।
भक्ति से सँभाल तन पति का, पतिव्रता ने,
चढ़ के चिता पे निज तन को जला दिया ।
कहणानिधान ने अमल छवि देके उन्हें,
फिर स्वर्ग आगत विमान पे बिठा दिया ।
करके अशोक मुक्ति-पद दे दया से उन्हें,
मृत्यु-लोक से ले निज लोक पहुँचा दिया ॥

श्यामनरायण पाण्डेय

[जन्म सन् १९१०]

पाण्डेयजी आजमगढ़ जिले के रहनेवाले हैं । इस समय माधव संस्कृत-विद्यालय, सारङ्ग, में अध्यापक हैं । आपने वीररस को अपनाया है । आपकी

प्रसिद्ध रचना 'हल्दीघाटी' पर दो हजार रूपयों का देव पुरस्कार मिल चुका है। इसमें महाराणा प्रताप तथा मुगलों के युद्ध का वर्णन है। आपका दूसरा प्रबन्ध-काव्य 'जौहर' है। प्रसाद गुण आपकी विशेषता है। आपकी रचना में बड़ा प्रवाह है। छन्दों की पंक्तियाँ मानो फिसलती चलती हैं।

रणयात्रा प्रकरण हल्दीघाटी से लिया गया है। महाराणा प्रताप रण करने के लिए चल पड़े हैं। इस अवतरण में भरने का और वसन्त का वर्णन बड़ा ही मनोहर है। ओज है, मधुरता है, सरलता भी है।

रणयात्रा

मणपति के पावन पाँव पुज, बापी-पद को कर नमस्कार ।
 उस चण्डी को, उस दुर्गा को, काली पद को कर नमस्कार ॥
 उस कालकूट पीनेवाले के नयन याद कर लाल-लाल ।
 डग-डग ब्रह्माण्ड हिला देता जिसके ताण्डव का ताल-ताल ॥
 ले महाशक्ति से शक्ति-भीख, द्रत रख वनदेवी रानी का ।
 निर्भय होकर लिखता हूँ मैं, ले आशीर्वाद भवानी का ॥
 मन भर लोहे का कवच पहन, कर एकलिङ्ग को नमस्कार ।
 चल पड़ा वीर, चल पड़ी साथ जो कुछ सेना थी लघु-अपार ॥
 घन-घन-घन-घन-घन गरज उठे रण-वाद्य सूरमा के आगे ।
 जागे पुस्तैनी साहस-बल वीरत्व वीर-उर के जागे ॥
 सैनिक राणा के रण जागे, राणा प्रताप के प्रण जागे ।
 जौहर के पावन क्षण जागे, मेवाड़-देश के व्रण जम्मे ॥
 जागे शिशोदिया के सपूत, बापा के वीर-बखर जागे ।
 बरछे जागे, भाले जागे, खन-खन तलवार तबर जम्मे ॥
 कुम्भल गढ़ से चलकर राणा हल्दीघाटी पर ठहर गया ।
 गिरि अरावली की चोटी पर केसरिया-भण्डा फहर गया ॥
 प्रणवीर अभी आया ही था पुंअरि साथ खेलने को होली ।
 तब तक पर्वत-पथ से उतरा पूजा ले भीलों की टोली ॥

भैरव-रव से जिनके आगे रण के बजते बाजे आये ।
 इंगित मर मर मिटनेवाले वे राजे-महाराजे आये ॥
 मुनकर जय हर-हर सैनिक-रव वह अचल अचानक जाग उठा ।
 राणा को उर से लगा लिया चिर-निद्रित जग अनुराग उठा ॥
 नभ की नीली चादर ओढ़े युग-युग से गिरिवर सोता था ।
 तरु-तरु के कोमल पत्तों पर मारुत का नर्तन होता था ॥
 चलते-चलते जब थक जाता दिनकर करता आराम वहीं ।
 अपनी तारक-माला पहने हिमकर करता विश्राम वहीं ॥
 गिरि-गुहा-कन्दरा के भीतर अज्ञान-सदृश था अन्धकार ।
 बाहर पर्वत का खण्ड-खण्ड था ज्ञान-सदृश उज्ज्वल अपार ॥
 वह भी कहता था अम्बर से मेरी छाती पर रण होगा ।
 जननी-सेवक-उर-शोणित से पावन मेरा कण-कण होगा ॥
 पाषाण हृदय भी पिघल-पिघल आँसू बनकर गिरता भर-भर ।
 गिरिवर भविष्य पर रोता था जग कहता था उसको निर्भर ॥
 वह लिखता था चट्टानों पर राणा के गुण अभिमान सजल ।
 वह सुना रहा था मृदु-स्वर से सैनिक को रण के गान सजल ॥
 वह चला चपल निर्भर भर-भर वसुधा-उर-ज्वाला खोने को ;
 या थके महाराणा-पद को पर्वत से उतरा धोने को ॥
 लघु-लघु लहरों में ताप विकल दिनकर दिन भर मुख धोता था ।
 निर्मल निर्भर जल के अन्दर हिमकर रजनी भर सोता था ॥
 राणा पर्वत-छवि देख रहा था, उन्नत कर अपना भाला ।
 ये घिटप खड़े पहनाने को लेकर मृदु कुसुमों की माला ॥
 लाली के साथ निखरती थी पल्लव-पल्लव की हरियाली :
 डाली-डाली पर बोल रही थी कुह-कुह कोयल काली ॥
 निर्भर की लहरे चूम-चूम फूलों के बन में घूम-घूम ।
 मलयानिल बहता मन्द-मन्द बोरे आमों में भूम-भूम ॥
 जब तुहिन-भार से चलता था धीरे-धीरे मारुत-कुमार ।
 तब कुसुम-कुमारी देख-देख उस पर हो जाती थी निसार ॥

उड़-उड़ गुलाब पर बैठ-बैठ करते थे मधु का पान मधुप ।
 गुन-गुन-गुन-गुन-गुन कर करते राणा के यश का गान मधुप ॥
 लोनी लतिका पर झूल-झूल, बिखराते कुसुम-पराग प्यार ।
 हँस-हँसकर कलियाँ झाँक रही थीं खोल पंखुरियों के किवार ॥
 तब-तब पर बैठे मृदु स्वर से गाते थे स्वागत-गान शकुनि ।
 कहते यह ही बलि-वेदी हूँ इस पर कर दो बलिदान शकुनि ॥
 केसर-से निर्भर-कूल लाल फूले पलास के फूल लाल ।
 तुम भी वेंरी-सिर काट-काट कर दो श्रोणित से धूल लाल ॥
 तुम तरजो-तरजो वीर, रखो अपना गौरव अभिमान यहीं ।
 तुम गरजो-गरजो सिंह, करो रण-चण्डी का आह्वान यहीं ॥
 खग-रव सुनते ही रोम-रोम राणा-तन के फरफरा उठे ।
 जरजर उठे सैनिक अरि पर पत्ते-पत्ते थरथरा उठे ॥
 तब के पत्तों से, तिनकों से बन गया वहीं पर राजमहल ।
 उस राजकुटी के वैभव से अरि का सिंहासन गया बहल ॥
 बस गये अचल पर राजपूत, अपनी-अपनी रख ढाल प्रबल ।
 जय बोल उठे राणा की रख बरछे-भाले-करवाल प्रबल ॥
 राणा प्रताप की जय बोले, अपने नरेश की जय बोले ।
 भारत-माता की जय बोले, मेवाड़-देश की जय बोले ॥
 जय एकलिङ्ग, जय एकलिङ्ग, जय प्रलयङ्कुर शङ्कुर हर-हर ।
 जय हर-हर गिरि का बोल उठा कंकड़-कंकड़, पत्थर-पत्थर ॥
 देने लगा महाराणा दिन-रात समर की शिक्षा ।
 फूंक-फूंक भेरी वेंरी की करने लगा प्रतीक्षा ॥

मैथिलीशरण गुप्त

इस कविता में जोधपुर की एक कथा है । जोधपुर के राजा विजय ने
 बिगड़ कर अपने एक बड़े सरदार देवीसिंह को मरवा डाला । उनका लड़का

भी मारा गया। और महाराज ने देवीसिंह के पौत्र सवाईसिंह को भी दरबार में बुलाया। महाराज ने सवाईसिंह से भी वही प्रश्न किया जिस पर विजयसिंह से बिगड़े थे। उस बालक ने कितना सुन्दर उत्तर दिया। राजपूतों की उस युग की वीरता और टेक, आन पर बलि हो जाना, इस कविता में दिखाया गया है। भाषा सरल है, कथा में बड़ा प्रवाह है और संवाद में ओज है। कविता में तुक नहीं है। इस प्रकार की कविता को अनुकान्त कविता कहते हैं जिसे अंगरेजी में ब्लैंक वर्स कहते हैं।

विकट भट

ओंठों से हटा के रिक्त स्वर्ण-सुरा-पात्र को
 सहसा विजयसिंह राजा जोधपुर के,
 पीकरणावाले सरदार देवीसिंह से
 ख्यास बरबार में यों बोले—“देवीसिंह जी,
 कोई यदि रुठ जाय मुझसे तो क्या करे ?”
 बोले सरदार—“खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या ?
 ऐसा कौन होगा कि जो रुठ जाय आपसे ?”
 बोले फिर भूप—“तो भी पूछता हूँ, क्या करे ?”
 “जीवन से हाथ घोवे और मरे मुझसे।”
 देवीसिंह ने यों कहा; भूप फिर बोले यों—
 “और तुम रुठ जाओ तो बताओ, क्या करो ?”
 देवीसिंह चौंके—“खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या ?
 आपसे मैं रुठ जाऊँ, ऐसा भाव क्यों हुआ ?”
 राजा ने कहा कि “मैंने पूछा है सहज ही,
 यदि तुम रुठ जाओ तो बताओ, क्या करो ?”
 देवीसिंह बोले—“खमा अन्नदाता यह क्या ?
 सेवक हूँ मैं तो और आप मेरे स्वामी हैं;
 आपसे क्यों रुठूंगा भला मैं ? आप मुझको—

देते हैं टकड़े और उनसे मैं जीता हूँ;
जाऊंगा कहाँ मैं फिर रुठकर आपसे ?”

“तो भी, यदि रुठ जाओ ?” पूछा फिर राजा ने
उत्तर दिया यों सरबार न पुनः—“क्या मैं
नमकहराम हूँ जो रुठ जाऊँ स्वामी से ?”

फिर भी विजयसिंह प्रश्न करने लगे।

सुन कर बार बार बात वही उनकी

वृद्ध वीर ठाकुर को क्रोध कुछ आ गया।

लाली दीड़ आई सौम्य, शान्त, गौर गात्र में,

बदन गभीर हुआ; किन्तु रहे मौन वे।

बोले फिर भूप—“देवीसिंहजी, कहा नहीं ?

यदि तुम रुठ जाओ मुझसे तो क्या करो ?”

“पृथ्वीनाथ, मैं जो रुठ जाऊँ” कहा वीर ने—

“जोधपुर की तो फिर बात ही क्या वह तो

रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही,

मैं यों ‘नवकोटी मारवाड़’ को उलट दूँ”

कहते हुए यों ढाल सामने जो रखी थी,

बायें हाथ से उन्होंने उल्टी पटक दी !

सन्नाटा सभा में हुआ, सब चुपचाप थे;

सिर को हिलाते हुए सन्न रहे राजा भी !

दूसरे दिवस देवीसिंह दरबार में

जाने के लिए जो सिंहपीर पार करके,

चौक में—करों के बल—पीनस में उतरे,

एक जन पीछे से उठा के खड्ग उनका

भाग गया, लौटकर देखा जो उन्होंने तो

ढाल ही दिखाई पड़ी, चौक उठे तब वे !

चारों ओर दृष्टि डाली, द्वार सब बन्द थे;

पीनस के डण्डे पर रक्खे हुए हाथ वे

क्षण भर सोचा किये इस अभिसन्धि को ।
 देखा सिर ऊँचा कर ऊपर को अन्त में—
 सामने विजयसिंह छत पर थे खड़े ।
 “मेरे साथ ऐसा व्यवहार ! भला, अब क्या
 इच्छा है ?” उन्होंने कहा भूपति को देख के ।
 आज्ञा हुई—“शीघ्र इसे जीता ही पकड़ लो ।”
 पीनस का डण्डा किन्तु अब भी था हाथ में,
 जाता कौन मरने को ठाकुर के सामने !
 फन्दे तब फेंके गये उनके फँसाने को,
 और वे फँसाये गये बाँधे गये खम्भ से ?
 “हाँ, अब अमल आवे” आज्ञा हुई नृप की;
 सोने के कदोहों में अफीम घुलने लगी,
 देवीसिंह को भी वह ठीकरे में मिट्टी के
 भेजी गई, देखते ही मानी सरदार से
 अब न सहा गया, रहा गया न मौन भी—
 “अधम, अधर्मी, अकृतज्ञ, अनाचारी रे
 ऐसा अपमान !” कोड़ा खाके भला घोड़ा ज्यों—
 तड़प, त्यों ठाकुर ने एक झटका दिया,
 टूट गये बन्धन तड़ाक, किन्तु वेग था,
 संभला न मस्तक, भड़ाक हुआ भीत में !
 शोणित की लालिमा को चिन्ह सम छोड़ के
 ठाकुर का जीवन-दिनेश अस्त हो गया !
 “हाय ! पिता, ऐसा परिणाम हुआ आपका !
 किन्तु आपका ही पुत्र हूँ मैं, यदि राजा के
 सामने प्रणत होऊँ तो मैं नत होऊँगा
 अपनी ठकुरानी के आगे, यही प्रण है !
 आता है चढ़ाई कर पोकरण; आने दो,
 देखूँगा कृतघ्न को मैं, प्रस्तुत हो भाइयो,

मान रखने की आज प्राण हमें देने हैं।”
 यों कह सबलसिंह पोरण दुर्ग में
 बोले फिर—“जाय वह प्राण जिसे प्यारे हों,
 प्रस्तुत हो मरने के अर्थ जो रहे वही।”
 “प्रस्तुत हैं हम सब” सैनिकों ने यों कहा
 और, जो कहा सो सब करके दिखा दिया;
 प्राण-मोह छोड़ उन मुट्ठी भर वीरों की—
 टुकड़ी ने भ्रंभा के समान, जोधपुर के
 घोर दल-बादल को छिन्न-भिन्न करके
 और भली भाँति से उड़ा के धूल उसकी
 रण में सबलसिंह-युक्त गति वीरों की—
 पाई और मानो स्वर्ग लेकर शान्ति ली !
 सबल पिता का पुत्र, पौत्र देवीसिंह का
 बालक सवाईसिंह बारह बरस का,
 लड़ने को उद्यत था; किन्तु था अकेला ही;
 सेना हत हो चुकी थी पहले ही। राजा का
 हुक्म हुआ—“जोधपुर हाज़िर करो उसे।”
 “बेटा, तुझे राजा ने बुलाया है, न जाने से
 तू भी न बचेगा, किन्तु”—बीच में ही माता से
 बोला वीर बालक कि “जननी, मैं जाऊँगा।
 किन्तु इससे नहीं, कि यदि मैं न जाऊँगा
 तो मैं भी बर्चूँगा नहीं, किन्तु इससे कि मैं
 देखूँगा कृतघ्न और क्रूर उस राजा के
 सींग पूँछ हैं या नहीं, क्योंकि पशुओं से भी
 नीच तथा मूढ़ महा मानता हूँ मैं उसे।”
 बोली तब वीर-माता आँसुओं से भीग के—
 “वत्स, जाने में भी मुझे क्षेम नहीं दिखता।
 समुर गये हैं और स्वामी गये साथ ही,

मेरे लाल, तू भी चला, कैसे घरूँ घँय्यं में ?
 रोने तक का भी अवकाश मुझे है नहीं;
 तो भी आनबान बिना जीना मरना ही है।
 तुझको भी प्राणहीन देख सकती हूँ मैं,
 किन्तु मानहीन देखा जायगा न मुझसे।
 सहना पड़ेगा सो सहूँगी किन्तु देखना,
 कहना वही जो कहा तेरे पितामह ने;
 भूल मत जाना जिस बात पर वे मरे।
 अच्छा, कह, तेरी कटारी की पतली में भी
 जोधपुर है या नहीं ?” पुत्र तब बोला यों—
 “इसका जवाब उसी घातक को दूँगा मैं,
 तू क्यों पूछती है प्रसू, क्या इस शरीर में
 शोणित क्रमागत नहीं है उन्हीं बादा का ?
 किन्तु एक प्रार्थना मैं करता हूँ तुझसे,
 अन्ततः माँ, मेरा वह उत्तर सुने बिना
 छोड़ना न नश्वर शरीर यह अपना।
 अपने अभागे इस पुत्र के विषय में
 संशय लिये ही चली जाना तू न तात के
 पीछे, जिसमें कि उन्हें दे न सके तोष तू !”
 “जा बेटा, कदाचित् सदा के लिए हाय रे !”
 करुणा से कण्ठ भर आया ठकुरानी का।
 जाकर अँधेरी एक कोठरी में घेग से,
 पृथ्वी पर लोट वह रोई ढाढ़ मार के;
 ब्योम की भी छाती पर होने लगा लीक-सी !
 सुन सब लोग हाय ! हाय करने लगे;
 कहता परन्तु कौन भूपति से कुछ भी ?
 बोला एक चारण कि—“मैं कहूँगा राजा से !”
 पहुँचे उसी दिन सवाईसिंह भी वहाँ;

देखकर लोग उन्हें हाथ मलने लगे—
 घारी ह अब हा ! इस केसरी-किशोर की !
 दो-दो निज कण्टक जो सालते थे, टाल के
 बैठे ह विजयसिंह आम बरबार में;
 किन्तु क्यों, न जाने, आज भी ह वे उदास-से ।
 सब सरदार भी ह बैठे मौन भाव से,
 मानो स्तब्ध रजनी में तारागण व्योम के !
 “राजा बुरा काम किया” गुंजी गिरा सहसा !
 चौंककर भूपति न देखा सब सामने
 और दरबारियों ने, चारण था कहता ।
 कर लिये नीचे सिर देखकर सबने;
 किन्तु इतनी भी ताब भूपति की थी नहीं !
 कहता था चारण गम्भीर धीर वाणी से—
 “राजा, बुरा काम किया, मैं ही नहीं कहता,
 राजा, बुरा काम किया, कहते हैं यों सभी ।
 मारना नहीं था जंतसिंह जैसे वीर को;
 तोड़नी नहीं थी वह मूर्ति स्वामिधर्म की;
 माननी नहीं थी तुम्हें बातें बेईमानों की,
 तुम्ह पर मरने को प्रस्तुत था आप ही
 शूर वह, मारना ही था तो उसे गाढ़े में
 आड़ा कर देना था, न पीछे वह हटता ।
 वीर वह ऐसा था कि आयुष्यों की झाड़ी में
 तेरा मार्ग स्वच्छ कर देता अप्रगामी हो !
 शत्रुओं के हाथियों के होंदे बस खाली ही
 तुम्हको दिखाता वह अपने प्रहारों से ।
 अब जब युद्ध में विपक्षियों के व्यूह में,
 टङ्कारित होते चाप, झङ्कारित असियाँ,
 भीड़ पड़ने से तब याद उस वीर की

सालेगी हिये में तुझे, तू ही तब जानेगा।”
 मौन हुआ चारण, महीपति भी मौन थे;
 सचमुच जैतसिंह ऐसा ही पुरुष था।
 पोकरण और आहुआ थे जोधपुर के—
 अगल दो, टूट गये किन्तु अब दोनों ही
 कौन यवनों का; मराठों को, अब गेकेगा ?
 राजा पछताय, भर आये नेत्र उनके;
 किन्तु बस क्या था अब हो गया सो हो गया।
 जो में क्रुद्ध हो रहे थे भूप परलोक जो
 आ गई उन्हें भी दया दैन्य देख उनका !

हाथ के इशारे से बिठाते हुए शान्ति से
 चारण को, बोले वे—“सवाईसिंह हैं कहाँ ?
 लाओ उसे शीघ्र”दोड़े चोबदार हाल ही
 और शीघ्र लाये उस एक कुलदीप को।

निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
 वन में ज्यों, डाले बिना ऋषि किसी ओर त्यों,
 भोर के भभूके सा, प्रविष्ट हुआ साहसी
 बालवीर, मन्द मन्द धीर गति से धरा
 मानो धँसी जा रही थी, वदन गंभीर था,
 उठता शरीर मानो अङ्गे में न आता था,
 वक्षःस्थल देख के कपाट खुले जाते थे,
 मरने-मारने ही को मानो कटि थी कसी,
 शोभित सुखङ्ग उसमें था खरे पानी का,
 पतली पड़ी थी उपवीत-तुल्य कन्धे में,
 उसमें कटार खोसी, जिसकी समानता
 करने को भौंहे भव्य भाल पर थीं तनी !
 छू रहा था बायाँ हाथ बढ़कर जानु को,
 बायें हाथ में थी सींग, पीठ पर ढाल थी;

तोड़े के स्वरूप में था सोना पड़ा पैरों में
 आकृति ही देती थी परिचय प्रकृति का !
 चौंक पड़ी सारी सभा देख वीर बाल को;
 जान पड़ा भूप को कि देवीसिंह ही नया—
 जन्म लेके आ रहे हैं आज फिर से यहाँ !
 चाल वही, ढाल वही, गौरव वही तथा
 गर्व भी वही है ! तब प्रश्न किया राजा ने—
 “बालक, बुलाया तुम्हें मैंने है क्यों, सुनो,
 जोधपुर रहता था पतली में जिसकी
 देवीसिंह वाली सो कटारी कहो मुझसे,
 अब भी तुम्हारे पास है या नहीं ?” राजा के
 पूछने के सम्य ही सवाईसिंह ने कहा
 निर्भय—“कटारी ? घरा कांपी सबा जिससे ?”
 ‘कण्ठ भी वही है अहा !’ जी में कहा राजा ने
 सुन के—“कटारी ? घरा कांपी सबा जिससे ?
 बिजली की बेटो वह ? भौंह मझकाल की ?
 शत्रु के चबाने को कराल डाढ़ यम की ?
 चम्पावत ठाकुरों की ‘पत’ वह लोक में ?
 पूछते हैं आप क्या उसी की बात ?” राजा का
 उनके न जानते ही सम्मति के अर्थ में
 माथा डुला, कहता था बालक—‘तो सुनिए,
 बादा ने कटारी वह मेरे पिता के लिए
 छोड़ी और मेरे पिता सोंप गये मुझको ।
 पतली के साथ वह मेरे इस पादवं में
 अब भी है पृथ्वीनाथ, एक जोधपुर क्या ?
 कितने ही वृष पड़े रहते हैं सर्वदा
 क्षात्र कीर्ति-कोषवाली पतली में उसकी !
 सच्ची बात कहने से आप रुठ जायेंगे;

किन्तु जब पूछते हैं कैसे कहूँ भूठ मैं ?
 होता न जोधपुर पतली में उसकी
 कहिए तो कैसे वह प्राप्त होता आपको ?”
 सिंहासन छोड़ उठे भूपति तुरन्त ही,
 छाती से लगा के उस क्षत्रिय कुमार को
 चारण से बोले यों कि—“वारट जी, सत्य ही
 मैंने बुरा काम किया, भूल हुई मुझसे।
 किन्तु देवीसिंह और जैतसिंह दोनों ही
 मर के भी जीवित हैं, देखो, इस बच्चे को
 और आशीर्वाद दो कि यह मुख से जिये।
 मैं भी यही आशीर्वाद आज इसे देता हूँ।”

सोहनलाल द्विवेदी

यह कथा भी राजपूताने के त्याग और वीरता की है। इस कथा का उल्लेख कर्नल टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास में किया है। किस प्रकार एक वीर रमणी अपने नव-विवाहित पति को कर्त्तव्य-मथ पर दृढ़ करने के लिए और ऐसा न हो कि प्रेम की उताल तरंगों उसे विचलित कर दें, अपना सिर काटकर अर्पण कर देती है। यह भी मुक्त-काव्य है। किन्तु पढ़ने में गति है, लय है। भाषा और भाव का सुन्दर सामञ्जस्य है। ओजपूर्ण भाषा है, साथ ही मधुरता भी है।

चूड़ावत

आज गा रहा हूँ गीत, स्वर्णिम अतीत का,
 नीरव संगीत का,
 जब कि वीरभूमि मेवाड़ के प्रदेश में
 अन्धित स्वदेश में

धीर वीर एक से एक थे श्रेष्ठ औ' वरेष्ठ,
 पर्वत, उपत्यका, निर्भर, गिरि-गुहा म आज,
 अंकित है जिनके वीर विक्रम के संघात,
 आघात, प्रतिघात;
 अगणित सेनाएँ चली, क्वणित, वेणु, शृंगीरव,
 रणित, असि, खड्ग, शर, धन्वा, शत अस्त्र-शस्त्र,
 डोल उठी धरणी, तरणी-सी महासिन्धु बीच,
 तीक्ष्ण खड्गधार पर,
 विक्रम अपार पर,
 निज भुज-दण्ड पर,
 पौरुष प्रचण्ड पर,
 वीरों ने दासी बना रखी थी वसुन्धरा,
 शिर पर स्वर्ण-छत्र, कर स्वर्ण राज्य-दण्ड,
 पद-तल था सिंहासन, मणिक मरकत भरा,
 चारण उच्चारण
 करते थे विरुदावली,
 वन्दी, सूत, मागध
 बखानते यशावली,
 जिनके यश-सीरभ से
 सुरभित वनस्थली !
 वीरों का चित्र नहीं, यह है चरित्र
 क्षत्रिय वीराङ्गना का,
 निर्मल कुलाङ्गना का,
 जिनके
 तपोत्याग पर,
 अक्षल अनुराग पर,
 अमर सुहाग पर,
 विजय-श्री आती, बनी बहू रानी-सी

चिर-पहचानी-सी.

टिकती वीरगृह में, बन वीर का मुकुट-मणि;

एक समय—

इसी राजस्थान में,

युद्ध घमासान में,

जाते सरदार लिय कर शर, खर प्रखरधार

वरण करने को मरण,

या कि विजय आभरण,

केसरिया आवरण

धरते गुरु गहन चरण;

चूड़ावत धीर वीर

जिनकी महिमा गभीर,

माता फिरता समीर,

आये थे अभी पाणिग्रहण कर नवल वष

छूटा था हाथ से अभी तक हल्दी का न रङ्ग ।

इसी समय—

आया परवानः दरबार का,

रक्षा सरकार का,

“हो रही है हार, साम्राज्य की बार-बार,

अभी अखिलम्ब चल बोगे जो न सरकार,

लेकर पवति, सैन्य, दूथप, जन-संभार

तो फिर है अन्धकार

रण का अगम पारावार,

द्वार फिर दुनियाँ ।

द्रुत, द्रुततर, द्रुततम प्रस्थान करो,
 एक-एक सैनिक पदाति बलिदान करो,
 आज रखनी हूं आन कुल की, मान कुल का,
 आत्माभिमान, स्वामिभान बाहुबल का,
 आशा तभी जय की,
 अभिलाषा अभय की।”

पाते परवाना,
 हुए चूड़ावत रवाना,
 किन्तु, हृदय था अधीर, उर में थी एक पीर,
 कुछ दिन हुए आये नहीं,
 वृथ तक मिल पाये नहीं,
 उमड़ पड़ा खड्ग बांधते, नयन से नीर।
 होते आघात-प्रतिघात यों बार-बार
 क्षुब्ध उरसिन्धु, रूपलुब्ध उठी महाज्वार,
 टूक-टूक होते थे, कपारे गुरु धर्म के।
 आई बहुरानी,
 थी तरुणी, सयानी,
 मर्म भेद गया उसका, कर्म देख अभु का,
 शर्म थी उसे अभी, इससे वह मूक रही;
 जाते सरदार, हेरते थे मुड़-मुड़ अधीर
 उठती थी उर में रह-रह न जाने कौन पीर !
 रास शिथिल, चाल शिथिल, ढाल शिथिल,
 शर औं करवाल शिथिल,
 बढ़ता था, अश्व भी न,
 स्वामी का मुख देख, रुख देख।

अश्व-आरोही हो
 समर के बढोही हो,
 ऊपर निर्मोही हो,
 गये सरदार वीर,
 उर में थी नहीं धीर।
 भेजा सन्देश, फिर फिरकर, निज पदचर से,
 जाके बहुरानी से कहो 'रखे स्मरण सन्देश को,
 गौरव के वेश को,
 करके परास्त शत्रु दलबल को आऊंगा,
 साथ में तुम्हारे लिए जयश्री को लाऊंगा।
 किन्तु, आ पाऊ नहीं,
 तो तुम सती होना यहीं,
 विचलित होना न कहीं,
 रखना अकलङ्कित, निज अञ्चल सुहाग को,
 अविचल अनुराग को।'

एक बार, दो बार, तीन बार आया जब,
 बार-बार उसी सन्देश को दुहराया जब,
 रानी न सोच्य—
 सरदार वीर
 के उर है न वीर,
 उनके मन-कुसुम बीच,
 छिपा है सन्देश-कीट,
 काट रहा कम-कम से
 उनकी देशभक्ति को,
 उनकी राज्यभक्ति को,
 उनकी आत्म-शक्ति को;
 बोली बहुरानी, थी आखिर क्षत्राणी—
 देती हूँ उत्तर, उपहार कुछ और भी,

जाके सरदार से कहो कि “बनो सिरमौर,
सतीव्रत पालती इ इधर मैं यहाँ यह अभी,
तुम भी वीरव्रती बनो,
अडिग महारथी बनो।”

इतना कह—

हल्दी का चढ़ा था रङ्ग,
जिन पाणि-पल्लव में सुरङ्ग,
उन्हीं अरुण हाथों से लेकर तलवार तीक्ष्ण
(मिली जो बिदाई में)

रानी ने,

उस क्षत्राणी ने,

निज शिर को किया छिन्न,

घड़ से उसे किया भिन्न,

बिया उसे हाथ में

अनुचर के साथ में

सो गई परिणय की इस मुहागरात में,

सो गई मिछन के विरह-प्रभात में।

पहुँचा उधर पदचर,

लिये रक्त-स्रवित शिर

कहा, सभीत, ‘उत्तर क्या भेजा है’

‘उत्तर में—शीश निज सहेजा है।’

वीर सरदार, चूड़ावत छिन्न-शिर हेर

समझ गये सभी, न की पल्ल-भर कहीं भी देर।

रुद्र के समान, शीश कण्ठ में माला कर

चला युद्ध करने, क्रुद्ध कर में भाला कर,

जाता जिस ओर, प्रलय-घटा बन छाता उधर

पाट-पाट भूमि, लक्ष-लक्ष नरमुण्डों से

कोटि मुण्डमाल रणचण्डी के चरणों में

अर्पित समर्पित कर बबा वह अजेय,
 जित्य मेय ।
 विस्मित, चकित होगी भ्रमित बुद्धि, ज्ञान,
 सुनकर साधारण-सा यह एक आख्यान ।
 रण के खिलाड़ियों के नित्य का यह खेल था,
 यों पौरुष से मेल था,
 क्षुद्र-सी कथा है, उस ज़ड़ावत ख की ।

निराला

[जन्म सं० १९५३]

पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म महिषादल राज्य (बङ्गाल) में हुआ। आपने प्रारम्भ में बँगला और फिर हिन्दी का अध्ययन किया। आप बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार हैं। कविता, कहानी, उपन्यास और निबन्ध सब लिखते हैं। आपकी भाषा बड़ी कठिन होती है। थोड़े शब्दों में अधिक भाव रखने की चेष्टा करते हैं। आपने हिन्दी में अमात्रिक छन्दों को चलाया जिसे मुक्तकाव्य ('फ्री वर्स') कहते हैं। उसका उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

इस कविता की भाषा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है जो निरालाजी की वास्तविक बोली है। केवल एक घटना को कवि ने कथा का रूप दे दिया है। नीरसता नहीं है। पाठक अन्त तक पढ़ने को उत्सुक रहता है। हृदय का उद्गार सीधी भाषा में दिया गया है। कवित्तम को सँवारने की चेष्टा नहीं की गई है। जैसा भाव जहाँ है वहाँ वैसी ही भाषा है। आरम्भ में तत्सम शब्दों से युक्त भाषा है, अन्त में भाषा नितान्त सरल है जहाँ एक बुढ़िया से बात होती है।

सेवारम्भ

अल्प दिन हुए,
 भक्तों ने रामकृष्ण के चरण छुए ।
 जगी साधना
 जन-जन में भारत की नवाराधना ।
 नई भारती
 जागी जन-जन को कर नई आरती ।
 अपर ओर करता विज्ञान घोर नाद
 दुर्धर शत-रथ-धर्धर विश्व-विजय-वाद ।
 स्थल-जल है समाच्छन्न
 विपुल-मार्ग-जाल-जन्य,
 तार-तार समुत्सन्न देश महादेश,
 निर्मित शत लौहयन्त्र
 भीमकाय मृत्युतन्त्र
 घूस रहे यन्त्र, मन्त्र रहा यही शेष ।
 बड़े समर के प्रहरण
 नये-नये हैं प्रकरण
 छाया उन्माद मरण-कोलाहल का,
 दर्प जहर, अर्जर नर,
 स्वार्थपूर्ण गुंजा स्वर,
 रहा है विरोध घहर इस-उस दल का ।
 मैक्सिम-गान् करने को जीवन-संहार
 हुआ जहाँ, खुला वहीं नोब्ल्-पुरस्कार !
 जितने ये यहाँ नवयुवक—
 ज्योति के तिलक—
 खड़े सहोत्साह,
 एक-एक लिये हुए प्रलयानल-दाह ।

बहुत काल बाद
 अमेरिका-धर्म महासभा का निनाद
 विश्व ने सुना, काँपी संसृति की थी दरी,
 गरजा भारत का वेदान्त-केसरी।
 श्रीमत्स्वामी विवेकानन्द
 भारत के मुक्त-ज्ञानछन्द
 बँधे भारती के जीवन से
 गान गहन एक ज्यों गगन से,
 आये भारत, नूतन शक्ति ले जगी
 जाति यह रँगी।
 स्वामी श्रीमदखण्डानन्द जी
 एक और प्रति उस महिमा की,
 करते भिक्षा फिर निस्सम्बल
 भगवा-कौपीन कमण्डलु-केवल;
 फिरते ये मार्ग पर
 जैसे जीवित विमुख ब्रह्म-शर।
 इसी समय भक्त रामकृष्ण के
 एक जमींदार महाशय दिखे।
 एक दूसरे को पहचानकर
 प्रेम से मिले अपना अति प्रिय जन जानकर।
 जमींदार अपने घर ले गये,
 बोले—“कितने दयालू रामकृष्ण देव थे !
 आप लोग धन्य हैं,
 उनके जो ऐसे अपने, अनन्य हैं।”—
 द्रवित हुए। स्वामी जी ने कहा,—
 “नवद्वीप जाने की है इच्छा,—
 महाप्रभु श्रीमच्चैतन्यदेव का स्थल
 देखूँ, पर सम्यक निस्सम्बल

हैं इस समय, जाता है पास तक जहाज,
 सुना है कि छूटेगा आज ।”
 धूप चढ़ रही थी, बाहर को,
 जमींदार ने देखा,—घर को,—
 फिर घड़ी, हुए उन्मन
 अपने आक़िस का कर चिन्तन;
 उठे, गये भीतर,
 बड़ी देर बाद आये बाहर,
 बिया एक कपया, फिर फिरकर
 चले गये आक़िस को सत्वर ।
 स्वामीजी घाट पर मये,
 “कल जहाज छूटेगा” सुनकर
 फिर रुक नहीं सके,
 जहाँ तक करें पैदल पार—
 गङ्गा के तीर से चले ।
 चढ़े दूसरे दिन स्टीमर पर
 लम्बा रास्ता पैदल तै कर ।
 आया स्टीमर, उतरे प्रान्त पर, चले
 देखा, है दृश्य और ही बबले,—
 बुबले-बुबले जितने रोग,
 लगा देश भर को ज्यों रोग,
 बौड़ते हुए दिन में स्यार
 बस्ती में—बैठे भी गीघ महाकार,
 आती बबू रह-रह,
 हवा बह रही व्याकुल कह-कह;
 कहीं नहीं पहले की चहल-पहल,
 कठिन हुआ यह जो था बहुत सहल ।
 सेखते व देखते हुए

स्वामी जी चले जा रहे थे।

इसी समय एक मुसलमान-बालिका

भरे हुए पानी मृदु आती थी पथ पर, अम्बुपालिका;

घड़ा गिरा, फूटा,

देख बालिका का दिल टूटा,

होश उड़ गये,

कांपी वह सोच के,

रोई चिल्लाकर,

फिर ढाढ़ मार-मारकर

जैसे माँ-बाप मरे हों घर।

सुनकर स्वामी जी का हृदय हिला,

पूछा—“कह, बेटो, कह, क्या हुआ?”

फफक-फफककर

कहा बालिका ने,—“मरे घर

एक यही बचा था घड़ा,

मारेगी माँ सुनकर फूटा।”

रोई फिर

वह विभूति कोई!

स्वामीजी ने देखीं आँखें—

गीली वे पाँखें,

करुण स्वर सुना,

उमड़ी स्वामीजी में करुणा।

बोले—“तुम चलो

घड़े की दुकान जहाँ हो,

नया एक ले दें;”

खिलीं बालिका की आँखें।

आगे-आगे चली

बड़ी राह होती बाजार की गली,

आ कुम्हार के यहाँ
खड़ी हो गई घड़े दिखा।

एक देखकर
पुछता सब में विशेखकर,
स्वामी जी ने उसे दिला दिया,
खुश होकर हुई वह बिदा।
मिले रास्ते में लड़के
भूखों मरते।

बोली वही देख के,—“एक महाराज
आये हैं आज,
पीले-पीले कपड़े पहने,
होंगे उस घड़े की दूकान पर खड़े,
इतना अच्छा घड़ा
मुझे ले दिया!

जाओ, पकड़ो उन्हें, जाओ,
ले देंगे खाने को, खाओ।”
दौड़े लड़के,
तब तक स्वामी जी थे बातें करते,
कहता दूकानदार उनसे,—“हे महाराज,
ईश्वर की गाज
यहाँ है गिरी, है बिपत बड़ी,
पड़ा है अकाल,
लोग पेट भरते हैं खा-खाकर पेड़ों की छाल।
कोई देता नहीं सहारा,
रहता हर एक यहाँ न्यारा,
मदद नहीं करती सरकार,
क्या कहूँ, ईश्वर ने ही दी है मार
तो कीन खड़ा हो?”

इसी समय आये वे लड़के,
 स्वामी जी के पैरों आ पड़े ।
 पेट दिखा, मुंह को ले हाथ,
 करुणा की चितवन से, साथ
 बोले,—“खाने को दो,
 राजों के महाराज तुम हो ।”
 चार आने पैसे
 स्वामीजी के तब तक थे बचे ।
 चूड़ा दिलवा दिया,
 खुश होकर लड़कों ने खाया, पानी पिया ॥
 जैसा एक लड़का, फिर बोला—
 “यहाँ एक बुढ़िया भी है, बाबा,
 पड़ी भोपड़ी में मरती है, तुम देख लो
 उसे भी, चलो ।”
 कितना यह आकर्षण,
 स्वामी जी के उठे चरण ।
 लड़के आगे हुए,
 स्वामी जी पीछे चले ।
 खुश हो नायक ने आवाज दी,—
 “बुढ़िया री, आये है बाबाजी ।”
 बुढ़िया मर रही थी
 गन्दे में फ़र्श पर पड़ी ।
 आँखों में ही कहा
 जैसा कुछ उस पर बीता था ।
 स्वामीजी पेटे
 सेवा करने लगे,
 साफ़ की वह जगह,
 दवा और पथ फिर देने लगे

मिलकर अफ़सरी से
भीख मांग बड़े-बड़े घरों से।
लिखा मिशन को भी
दृश्य और भाव दिखा जो भी।
खड़ी हुई बुढ़िया सेवा से,
एक रोच बोलती,—“तुम मेरे बेटे थे उस जन्म के।”
स्वामीजी ने कहा,—
“अबके की भी हो तुम मेरी माँ।”

शब्द-कोष

सूरदास

आरति—कष्ट । झार—खार । करबर—आपत्तिर्या । रौटि—धीगाधीगी ।
सतर—टेढ़ा । अजिर—आंगन । सकट—छकड़ा । भङ्ग—तोड़ना । खहि—
मिट्टी । छंग—(उत्संग) गोद, शरीर ।

गोस्वामी तुलसीदास

अजामिल—यह अत्यन्त पापात्मा मनुष्य था । उसने अपने बेटे
का नाम नारायण रक्खा था । मरते समय उसने अपने बेटे को प्रेम-वश
पुकारा । इससे, मरने पर भगवान् ने उसे मोक्ष प्रदान किया; क्योंकि उसने
भगवान् का नाम मरते समय लिया था । तरनी—ताव । बन-बाहन—
नाव । सहरी—(शफरी) मछली । मधुराधर—सुन्दर ओष्ठ । नौदुम—
घया वृक्ष । सायक—बाण । स्रम-सीकर—स्वेदबिन्दु । पद-पंकज—
चरण-कमल । मैन—कामदेव । निषंग—तरकस । बिध्वनी—चन्द्रमुखी ।
तून—(तूण) तरकस । लोचनलाहु—नेत्रों का लाभ । अनुराग-तड़ाग—प्रेम
का तालाब । कलेवर—अंग । पद-मंजुल-कंज—कमल के समान सुन्दर चरण ।
ज्ञानन—वन । बन्दीजन—राजाओं के विरदावली का वर्णन करनेवाले,
भाट । विधु—चन्द्रमा । पुरारि-कोदंड—शिव का धनुष । विराग—
वैराग्य । रोष—क्रोध । माखे—रोष किया । भानु-कुल-पंकज-भानू—सूर्य-
वंशरूपी कमल के लिए सूर्य के सदृश । कन्दुक—गेंद । पिनाक—महादेव जी
का धनुष । छत्रकदंड—कुकुरमुत्ता । बाल-पतंग—नवोदित सूर्य । लोचन-
भृङ्ग—नेत्ररूपी भ्रमर । नखत—नक्षत्र, तारा । मृनाल—मृणाल, कमल-
नाल । बालमराल—हंस के बच्चे । मंदर—मंदराचल । गननायक—
गणेश जी । चापगस्ता—धनुष का भारीपन । सिरिस-सुमन-कन—सिरस
के पुष्प का कण । जुग सय—मैकड़ों युग । लघु व्याल—छोटा सर्प ।

कुंजर—हाथी । कमठ—कछुआ । कोला—वराह । ब्रोहित—जहाज ।
 कनहारू—खेनेवाला । रावबाजि—सूर्य के घोड़े । दिग्गज—दिशाओं के
 हाथी । रूप-पर्योर्नाथ—सुन्दरता के समुद्र । कीर—तोता । कागर—
 पंख । राजिवलोचन—कमल के समान नेत्रोंवाला । बटाऊ—राहगीर ।
 गिरि-मेरू—मुमेरू पर्वत । तटिनी—नदी ।

मोरा

छद्रघ्नटिज—तुंघरुदार फारसी । भगत-बखल—भक्त पर कृपा करनेवाले ।
 भुजगम—साँप, सर्प । द्रौपदी की०—पाण्डव जब द्रौपदी को दाँव में
 हार गये तब दुर्योधन ने आज्ञा दी कि द्रौपदी को सभा के बीच ले
 आकर उसके वस्त्र उतार लिये जायें । दुःशासन द्रौपदी को, केश पकड़े
 हुए, कौरवों की सभा में खींच लाया और उसका एकमात्र वस्त्र उतारने
 की चेष्टा करने लगा । द्रौपदी ने सब सभासदों से प्रार्थना की, पर
 किसी ने दुःशासन को नहीं रोका । अन्त में लाचार होकर उसने भगवान्
 को पुकारा । भगवान् ने, उसकी प्रार्थना सुन ली और दुःशासन के
 खींचन पर भी वस्त्र तो बढता गया और द्रौपदी की लज्जा बच गई ।
 हरिकस्यप—एक दैत्य का नाम (प्रह्लाद का पिता) । इसने भगवद्भक्त
 प्रह्लाद को अनेक बार मार डालने की कोशिश की तब भगवान् ने नृसिंह
 रूप धरकर इसका वध किया । बूढ़ते गजराज०—एक बार हाथियों का
 एक मुखिया नदी के जल में नहा रहा था कि उसे एक मगर ने पकड़ लिया ।
 उसने उससे छूटने का बहुत यत्न किया पर नहीं छूट सका । तब उसने
 भगवान् को याद किया और भगवान् ने रोड़कर अपने चक्र से मगर को मार
 डाला । पीताम्बर—रेशमी वस्त्र । अमोलिक—जिसका मूल्य न आँका जा
 सके । प्रेम-बलि—प्रेम की लता ।

रसखान

पुरन्दर—इन्द्र । कालिन्दी-कूल-कदम्ब—यमुना-तट के कदम्ब वृक्ष ।
 लकुटी—छोटी छड़ी । कलानिधि—चन्द्रमा । अनादि—जिसके प्रारम्भ का

पता न हो। अनन्त—जिसका अन्त न हो। अखण्ड—जिसके खण्ड न हों।
सुख-सिन्धु—आनन्द का समुद्र।

गुरु नानक

कंचन—सोना। अतीता—घीता हुआ। पद-निरवाना—परम पद।
छंडि—छोड़कर। हंस—जीव। दरगह—दरगाह। जाँदियाँ—जाना।
बेले—बेला, समय।

कबीर साहब

सुबरन-कलस—सोने का घड़ा। मनका—माला की गुरिया।

रहीम

नाद—स्वर, शब्द। सरवर—वरावरी। फरजी—वज्जीर, मन्त्री। गिरि-
घर—गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण। जलधि—समुद्र।

बिहारीलाल

दमामा—नगाड़ा। अगाध—जिसकी बाह न हो। ओथरी—उथला।
सुमृति—स्मृति। तरु अर्क—मदार का पेड़। अर्क—सूर्य। मयंक—चन्द्रमा।
बायस—कौआ। कनक—सोना। कनक—धतूरा।

गिरधरदास

दावागीर—प्रतिद्वन्दी, विरोधी।

दीनदयाल गिरि

अमरित—अमृत। चपला—खिजली। द्विजगन—पक्षियों का समूह।
सुरकानन—नन्दन वन। रतनाकर—समुद्र। दुस्तर—कठिनता से पार
होने योग्य। रसाल—आम। नीरनिधि—समुद्र।

मैथिलीशरण गुप्त

करस्थ—हाथ में रक्खा हुआ। अस्थिजाल—हड्डियों का ढाँचा।
क्षितीश—राजा। परस्परावलम्ब—एक को दूसरे का सहारा। अन्तरैक्य—
भीतरी एकता। अतर्क—जिस पर तर्क न किया जा सके (अकाट्य)।

जायसी

सरनदीप—लंका। गर्भस्थल—मध्य। आरन—अरण्य। मान्स-हरा—निर्जन। सुगध—कीर्तिमान्। तुखारा—तुखार देश का घोड़ा। इदू—इंद्र। कैलास—स्वर्ग। सरि—बराबरी, समता। चुहचूही—एक छोटी चिड़िया, फुलसुंधनी। पांडुक—पेड़की, फ्राखता। कुराहर—कोलाहल, शोर-मुल। पाँवरी—ड्योढ़ी। पींड सन—जड़ से। फुरै—सचमुच। खजहजा—खाद्य। तपा—तपस्वी। मुरसती—दशनामी गुसाइयों में से एक। मानसरोदक—एक भील। गरेरी—चक्करदार। पाल—भीटा। बानी—वर्ण, रंग। सोन, डेक, बगलेदी—तालाब के पक्षी। मरजिया—शोताखोर। दारिउं—दाड़िम, अनार। न्योजी—लीची। खँड़वानी—खाँड़ का रस। धनबेली—बेला की एक जाति। बकौरी—बकावली। बगुचन—समूह।

भूषण

हौंसनि—उत्साह। उत्तंग—ऊँचे। मरकत—पन्ना। मनिमाल—मणियों की माला। पुट्टपराग—एक प्रकार का रत्न, पुखराज। बिकसन्त—खिले हुए। अमल-गंग-तरंग—गंगा की स्वच्छ लहर। बदन-इन्दु—मुख-रूपी चन्द्रमा। मुकुलित—संकुचित। कमल-कुल—कमलो का समूह। चक्रवाक—चकवा पक्षी। यलानि—इलायची के वृक्ष।

नरेन्द्र शर्मा

शतदलयुत—कमल के समान। गरि-पथ—पर्वतों के मार्ग। अरुण—लाल। नयनाभिराम—नेत्रों को अत्यन्त सुखकर। किरीट—मुकुट। ऋतुराज—वसन्त। दैन्य-दुःख-हेमन्त—दीनता के दुःख रूपी हेमन्त। स्वर्णिम—सोने के रंगवाला। मन-नीरजात—मनरूपी कमल। मृत्यु-भीत—मृत्यु से डरा हुआ।

जयशंकर 'प्रसाद'

व्योम-तम-पुञ्ज—आकाश में अन्धकार का समूह। मंसृति—संसार, जगत्। अरुण केतन—लाल भंडा। वरुण-पथ—समुद्र-मार्ग। पुरन्दर—इन्द्र। पवि—वज्र।

सोहनलाल द्विवेदी

राष्ट्र-यान—राष्ट्ररूपी जहाज । रण-कण—लड़ाई का कंगन । विश्वम्भर—
संसार का भरण करनेवाले भगवान ।

कान्तानाथ पांडेय 'हंस'

विश्ववन्द्य—संसार के वंदना योग्य । नव किसलय—नये पत्ते ।
बालारुण—प्रातःकालीन सूर्य । अभिषेक—मार्जन । सुरभित—सुगंधित ।
परिमल—सुगंध ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

भूधरपति—हिमालय । हिममण्डितमस्तकधारी—बर्फ से शोभित
माथेवाला । रश्मिराशि—किरण-समूह । गज-हन्ता—हाथियों को मारने-
वाले । किन्नरगण—संगीत में प्रवीण एक देव-जाति । सुरसरि-कण—
गंगा का कण । देवदारु-तरुवर-माला—देवदारु वृक्षों की कतार । ऊर्ध्वगामी—
ऊपर की ओर जानेवाली ।

श्रीधर पाठक

नगराज—हिमालय पर्वत । त्रिगुण—राजस, तामस, सात्त्विक गुण ।
त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश । त्रिजग—आकाश, मृत्युलोक, पाताल ।
खेचर—पक्षी । मर्कट—बन्दर । कच-भार—बालों का बोझ । स्वर्ग—
सोपान—स्वर्ग की सीढ़ी । समाधिस्थित—निश्चल अवस्था को प्राप्त ।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

हिम-किरीट—बर्फ का मुकुट । निर्वन्ध—जो बाँधा न जा सके ।
चिर-समाधि—अनन्तकालीन स्थिरता । दृगोन्मेष—नेत्र खोलने की चेष्टा ।
ज्वाल-वसंत—दाहक दृश्य । भग्नावशेष—टूटे-फूटे अवशेष-चिह्न । नवयुग-
शङ्खध्वनि—नवयुग की पुकार ।

श्रीधर पाठक

विमल-अंबु-सर-मुकुरन—स्वच्छ जल के तालावरूपी शीशे । तुहिन-
शिखर—बर्फ की चोटी । सिखर-ध्वनि—चोटियों की कतार । निखिल—
सब । तप-पुंज-प्रसूत—तप की ढेरी से उत्पन्न । ओक—घर ।

देवेन्द्रनाथ पाण्डेय

प्रतीची-पश्चिम। विभीत—डरा हुआ। पुरावृत्त—प्राचीन वृत्तांत।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

वसुन्धरा—पृथ्वी। अतिमुक्तसंज्ञका—अतिमुक्त नामवाली। प्रलोभनीया—लालच दिलानेवाली।

ठाकुर गोपालशरण सिंह

अतीत-सुध-सिन्धु—बीते हुए समय के स्मृति-समुद्र में। वृन्दा-विपिन विहारी—वृन्दावन में विचरण करनेवाले श्रीकृष्ण। कलिन्दजा—यमुना नदी। मानस-दुकूल—हृदयरूपी वस्त्र। प्रेम-पारावार—प्रेम का समुद्र। लोचना-भिराम—नेत्रों को विशेष मुख देनेवाले। द्रुमालियों—वृक्षों की पातों। सस्य-श्यामला—अन्न के पौधों से हरी भरी।

पद्माकर

धिति—स्थिति। रजत-पहार—चांदी के पहाड़। भजदण्ड—भुजरूपी डंडा। दगादार—धोखा देनेवाले। तोय—पानी। दिव्य-बीथिन—सुंदर गलियाँ। पाकसासन—इंद्र। छीरधि—क्षीरसागर। चंदचूड़—चंद्रमा है जिनके सिर पर, शङ्कर।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

श्रीहरि-पद-नख-चन्द्रकांत-मनि-द्रवित—विष्णु के चरण-नख रूप चन्द्रकान्त मणि से टपका हुआ। शिव-सिर-मालित-माल—महादेव जी के सिर की मालती की माला। अंकम—गोद। कर-जुगुल—दोनों हाथों से। मुक्तगुच्छ—मोतियों का गुच्छा।

श्रीधर पाठक

वितान—चँदोवा। मृदु-ममर-शाल—कोमल ध्वनिवाले। खग-वृन्द—पक्षियों का समूह। भानूकला—सूर्य की फिरण।

केशवदास

श्रुतिश्यामल—श्यामकण (काले कानवाला घोड़ा) । स्यों—सहित । सरसीरुह—सफ़ेद कमल । चतुरंग—चमू—चय—चतुरगिणी । सेना का समूह । राजसिरी—राजश्री, राजलक्ष्मी । मंगललाजनि—मंगलसूचक लावा (धान की खीलें) । हुतासन—अग्नि । लवणासुर—यह एक अज्ञेय राक्षस था । इसे शत्रुघ्न इस कारण मार सके थे कि यह ब्रह्मदोषी था । मैथिली—सीता । क्रम—कर्म । पतिदेवता—पतिव्रता । शर—बाण । गजराज—कलेवर—बड़े डील-डौल के हाथी का शरीर । पशुपति—शिव । गणपति—गणेश । तूल—तुल्य, समान ।

नरोत्तमदास

सिद्धियाँ—आठ हैं—अणिमा, मांहमा, गारिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व । निधि—इनकी संख्या नव है—पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, वच्चं । तन्दुल—चावल । सोधु—शोध, पता । हेमधाम—सुवर्ण का घर । पटम्बर—रेशमी कपड़ा ।

किशोरीलाल गोस्वामी

तुमुल तरङ्गवती—भारी लहरोवाली । दिवकुञ्जर—कथा है कि आठ दिग्गज पृथ्वी को अपनी पीठ पर रखे हुए हैं । नतकन्धर—नीची गर्दन । महाभागवत—श्रेष्ठ विष्णुभक्त । प्रतिध्वनि—गूँज । थिरता—स्थिरता । व्योम-बीथी—आकाशमार्ग । कोपपुञ्ज—क्रोध का समूह । रौद्रवपु—भयंकर देह । जह्ल—एक ऋषि, जिन्होंने गंगा को रोक लिया था और मनाये जाने पर गंगा को बहने के लिए मुक्त किया था ।

रामचन्द्र शुक्ल

गमन-उद्यत—जाने को तैयार । शिशिर-शीत-सशङ्कित—जाड़े की ठण्ड से चिन्तित । ओस-वितान—ओस का चँदोवा । शीतप्रताप-निवारिणी—ठण्ड के असर को हटानेवाली । दीर्घ शिखा—बड़ी लपटें । कृशाङ्गिनी—दुबली-पतली । पितु-निदेश—पिता की आज्ञा । अमीरस—अमृत-रस । असम—बेजोड़, अद्वितीय । सुकृत-फल—पुण्य का फल ।

रत्नाकर

गुञ्ज-अञ्जुली - अँजुली भर धुंधची । रंचक—तनिक । चल-चित-
पारद—चंचल चित्र रूपी पारा । निचोहें—नीचे । ब्रज-रजरजित—ब्रज की
धूल से रंगा हुआ । पुहुमी—पृथ्वी । स-वेदन—वेदना के सहित । धीरज-
धुरीन—अत्यंत धैर्यशाली । प्रलयागम—प्रलय का आगमन ।

मिलिन्द

सानुराग—प्रेम के साथ । भानुजा—यमुना । शतपत्र पंकजों—सौ दल-
वाले कमलों । नदीश—समुद्र । जीवन-तरणि—जीवन की नौका । अमाप—
जिसकी माप न हो सके ।

श्यामनारायण पांडेय

ताण्डव—शिव का नृत्य । ईंगित—इशारा । नर्तन—नाचना ।
हिमकर—चन्द्रमा । शकुनि—पक्षी । प्रलयङ्कुर—प्रलय मचानेवाला ।

मैथिलीश्वरण गुप्त

अभिसन्धि—साजिश । नश्वर—नाशवान् । आयुध—शस्त्र । व्यूह—
सेना का विन्यास । असि—तलवार । मृगेन्द्र—सिंह ।

सोहनलाल द्विवेदी

क्वणित—बजता हुआ । वेणु—बाँसुरी । शृंगीरव—सींगी की आवाज
कुलाङ्गना—भले घर की स्त्री । पाणिग्रहण—विवाह । उर-सिन्धु—हृदय-
रूपी समुद्र । करवाल—तलवार । कलङ्कित—कलंक-रहित । परिणय—
विवाह । पदचर—पैदल (सिपाही) । छिन्न-शिर—कटा हुआ सि
अजेय—जो जीता न जाय । आख्यान—कथा, कहानी ।

निराला

नवाराधना—नई उपासना । प्रहरण—आयुध । निनाद—स्व-
नवद्वीप—बंगाल में नादिया नाम की जगह । उन्मत्त—उदास । चिन्तन—
छयाल ।

